पूंजीवाद एक प्रेतकथा

- अरुंधती रॉय

यह मकान है या घर? नए भारत का मंदिर है या उसके प्रेतों का डेरा? जब से मुम्बई में अल्टामॉन्ट रोड पर रहस्य और बेआवाज सरदर्द फैलाते हुए एंटिला का पदार्पण हुआ है, चीजें पहले जैसी नहीं रहीं। 'ये रहा', मेरे जो मित्र मुझे वहां ले गए थे उन्होंने कहा, 'हमारे नए शासक को सलाम बजाइये।'

एंटिला भारत के सबसे अमीर आदमी मुकेश अंबानी का है। आज तक के सबसे महंगे इस आशियाने के बारे में मैंने पढ़ा था, सत्ताईस मंजिलें, तीन हेलीपैड, नौ लिफ्टें, हैंगिंग गार्डन्स, बॉलरूम्स, वेदर रूम्स, जिम्नेजियम, छह मंजिला पार्किंग, और छह सौ नौकर-चाकर। आड़े खड़े लॉन की तो मुझे अपेक्षा ही नहीं थी - 27 मंजिल की ऊंचाई तक चढ़ती घास की दीवार, एक विशाल धातु के ग्रिड से जुड़ी हुई। घास के कुछ सूखे टुकड़े थे; कुछ आयताकार चकत्तियां टूटकर गिरी हुई भी थीं। जाहिर है, 'ट्रिकल डाउन' (समृद्धि के बूंद-बूंद रिस कर निम्न वर्ग तक पहुंचने का सिद्धांत) ने काम नहीं किया था।

मगर 'गश-अप' (ऊपर की ओर उबल पर पहुंचने का काम) जरूर हुआ है। इसीलिए 120 करोड़ लोगों के देश में, भारत के 100 सबसे अमीर व्यक्तियों के पास सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के एक चौथाई के बराबर संपत्ति है।

राह चलतों में (और न्यूयार्क टाइम्स में भी) चर्चा का विषय है, या कम-अज-कम था, कि इतनी मशक्कत और बागवानी के बाद अंबानी परिवार एंटिला में नहीं रहता। पक्की खबर किसी को नहीं। लोग अब भी भूतों और अपशकुन, वास्तु और फेंगशुई के बारे में कानाफूसियां करते हैं। या शायद ये सब कार्ल मार्क्स की गलती है। उन्होंने कहा था, पूंजीवाद ने 'अपने जादू से उत्पादन के और विनिमय के ऐसे भीमकाय साधन खड़े कर दिए हैं, कि उसकी हालत उस जादूगर जैसी हो गई है जो उन पाताल की शक्तियों को काबू करने में सक्षम नहीं रहा है जिन्हें उसी ने अपने टोने से बुलाया था।'

भारत में, हम 30 करोड़ लोग जो नए, उत्तर-आइएमएफ (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष) 'आर्थिक सुधार' मध्य वर्ग का हिस्सा हैं उनके लिए - बाजार - पातालवासी आत्माओं, मृत नदियों के सूखे कुओं, गंजे पहाड़ों और निरावृत वनों के कोलाहलकारी पिशाच साथ-साथ रहते हैं कर्ज में डूबे ढाई लाख किसानों के भूतों जिन्होंने खुद अपनी जान ले ली थी, और वे 80 करोड़ जिन्हें हमारे लिए रास्ता बनाने हेतु और गरीब किया गया और निकाला गया के साथ-साथ रहते हैं जो बीस रुपए प्रति दिन से कम में गुजारा करते हैं।

मुकेश अंबानी व्यक्तिगत तौर पर 2,000 करोड़ डॉलर (यहां तात्पर्य अमेरिकी से), जो मोटे तौर पर 10 लाख करोड़ रुपए से ज्यादा ही होता है, के मालिक हैं। रिलायंस इंडस्ट्रीज लिमिटेड (आरआइएल), 4,700 करोड़ डॉलर (रु. 23,5000 करोड़) की मार्केट कैपिटलाइजेशन वाली और वैश्विक व्यवसायिक हितों, जिनमें पेट्रोकेमिकल्स, तेल, प्राकृतिक गैस, पॉलीस्टर धागा, विशेष आर्थिक क्षेत्र, फ्रेश फूड रीटेल, हाई स्कूल, जैविक विज्ञान अनुसंधान, और मूल कोशिका संचयन सेवाएं (स्टेम सैल स्टोरेज सर्विसेज) शामिल हैं, में वे बहुतांश नियंत्रक हिस्सा रखते हैं। आरआइएल ने हाल ही में इंफोटेल के 95 प्रतिशत शेयर खरीदे हैं। इंफोटेल एक टेलीविजन संकाय (कंजोर्टियम) है जिसका 27 टीवी समाचार और मनोरंजन चैनलों पर नियंत्रण है इनमें सीएनएन-आइबीएन, आइबीएन लाइव, सीएनबीसी, आइबीएन लोकमत और लगभग हर क्षेत्रीय भाषा का ईटीवी शामिल है। इंफोटेल के पास फोर-जी ब्रॉडबैंड का इकलौता अखिल भारतीय लाइसेंस है; फोर-जी ब्रॉडबैंड "तीव्रगति सूचना संपर्क व्यवस्था (पाइप लाइन)" है जो, अगर तकनीक काम कर गई तो, भविष्य का सूचना एक्सचेंज साबित हो सकती है। श्रीमान अंबानी जी एक क्रिकेट टीम के भी मालिक हैं।

आरआइएल उन मुट्ठी भर निगमों (कॉर्पोरेशनों) में एक है जो भारत को चलाते हैं। दूसरे निगम हैं टाटा, जिंदल, वेदांता, मित्तल, इंफोसिस, एसार और दूसरी रिलायंस (अनिल धीरूभाई अंबानी ग्रुप अर्थात एडीएजी) जिसके मालिक मुकेश के भाई अनिल हैं। विकास के लिए उनकी दौड़ योरोप, मध्य एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका तक पहुंच गई है। उन्होंने दूर-दूर तक जाल फैलाए हुए हैं; वे दृश्य हैं और अदृश्य भी, जमीन के ऊपर हैं और भूमिगत भी। मसलन, टाटा 80 देशों में 100 से ज्यादा कंपनियां चलाते हैं। वे भारत की सबसे पुरानी और विशालतम निजी क्षेत्र की बिजली पैदा करनेवाली कंपनियों में से हैं। वे खदानों, गैस क्षेत्रों, इस्पात प्लांटों, टेलीफोन, केबल टीवी और ब्रॉडबैंड नेटवर्क के मालिक हैं और समूचे नगरों को नियंत्रित करते हैं। वे कार और ट्रक बनाते हैं, ताज होटल श्रृंखला, जगुआर, लैंड रोवर, देवू, टेटली चाय, प्रकाशन कंपनी, बुकस्टोर श्रृंखला, आयोडीन युक्त नमक के एक बड़े ब्रांड और सौंदर्य प्रसाधन की दुनिया के बड़े नाम लैक्मे के मालिक हैं। आप हमारे बिना जी नहीं सकतेः बड़े आराम से उनके विज्ञापन की यह टैगलाइन हो सकती है।

ऊपर को बढ़ो वचनामृत के अनुसार, आप के पास जितना ज्यादा है, उतना ही ज्यादा आप और पा सकते हैं।

कारोबारियों का साकार होता सपना

हर चीज के निजीकरण के युग ने भारतीय अर्थव्यवस्था को दुनिया में सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था बना दिया है। फिर भी, किसी पुराने ढंग के अच्छे उपनिवेश की भांति, इसका मुख्य निर्यात इसके खनिज ही हैं। भारत के नए भीमकाय निगम (मेगा-कॉर्पोरेशन) - टाटा, जिंदल, एसार, रिलायंस, स्टरलाइट - वे हैं जो धक्कामुक्की करके उस मुहाने तक पहुंच गए हैं जो गहरे धरती के अंदर से निकाला गया पैसा उगल रहे हैं। कारोबारियों का तो जैसे सपना साकार हो रहा है - वे वह चीज बेच रहे हैं जो उन्हें खरीदनी नहीं पड़ती।

कॉर्पोरेट संपत्ति का दूसरा मुख्य स्रोत है उनकी भूमि के भंडार। दुनिया भर में कमजोर और भ्रष्ट स्थानीय सरकारों ने वॉल स्ट्रीट के दलालों, कृषि-व्यवसाय वाले निगमों और चीनी अरबपतियों को भूमि के विशाल पट्टे हड़पने में मदद की है। (खैर इसमें पानी नियंत्रण तो शामिल है ही)। भारत में लाखों लोगों की भूमि अधिग्रहित करके निजी कॉर्पोरेशनों को - विशेष आर्थिक क्षेत्रों (एसईजेड), आधारभूत संरचना (इन्फ्रास्ट्रक्चर) परियोजनाओं, बांध, राजमार्गों, कार निर्माण, रसायन केंद्रों, और फॉर्मूला वन रेसों के लिए 'जन हितार्थ' दी जा रही है। (निजी संपत्ति की संवैधानिक पवित्रता गरीबों के लिए कभी लागू नहीं होती)। हर बार स्थानीय लोगों से वादे किए जाते हैं कि अपनी भूमि से उनका विस्थापन या जो कुछ भी उनके पास है उसका हथियाया जाना वास्तव में रोजगार निर्माण का हिस्सा है। मगर अब तक हमें पता चल चुका है कि सकल घरेलू उत्पाद की दर में वृद्धि और नौकरियों का संबंध एक छलावा है। 20 सालों के 'विकास' के बाद भारत की श्रमशक्ति का साठ प्रतिशत आबादी स्वरोजगार में लगी है और भारत के श्रमिकों का 90 प्रतिशत हिस्सा असंगठित क्षेत्र में कार्य करता है।

आजादी के बाद, अस्सी के दशक तक, जन आंदोलन, नक्सलवादियों से लेकर जयप्रकाश नारायण के संपूर्ण क्रांति आंदोलन तक, भूमि सुधारों के लिए, सामंती जमींदारों से भूमिहीन किसानों को भूमि के पुनर्वितरण के लिए लड़ रहे थे। आज भूमि और संपत्ति के पुनर्वितरण की कोई भी बात न केवल अलोकतांत्रिक बल्कि पागलपन मानी जाएगी। यहां तक कि सर्वाधिक उग्र आंदोलनों तक को घटा कर, जो कुछ थोड़ी सी जमीन लोगों के पास रह गई है, उसे बचाने के लिए लडने पर पहुंचा दिया गया है। गांवों से खदेड़े गए, छोटे शहरों और महानगरों की गंदी बस्तियों और झुग्गी-झोपडियों में रहने वाले दसियों लाख भूमिहीन लोगों का, जिनमें बहुसंख्य दलित एवं आदिवासी हैं, रेडिकल विमर्श तक में कोई उल्लेख नहीं होता।

जब गश-अप उस चमकती पिन की नोक पर संपत्ति जमा करता जाता है जहां हमारे अरबपति घिरनी खाते हैं, तब पैसे की लहरें लोकतांत्रिक संस्थाओं पर थपेड़े खाती हैं - न्यायालय, संसद और मीडिया पर भी, और जिस तरीके से उन्हें कार्य करना चाहिए उसे गंभीर जोखिम में डाल देती हैं। चुनावों के दौरान के तमाशे में जितना अधिक शोर होता है, हमारा विश्वास उतना ही कम होता जाता है कि लोकतंत्र सचमुच जीवित है।

भारत में सामने आनेवाले हर नए भ्रष्टाचार के मामले के सामने उसका पूर्ववर्ती फीका लगने लगता है। 2011 की गर्मियों में टू-जी स्पेक्ट्रम घोटाला सामने आया। पता चला कि कॉर्पोरेशनों ने एक मददगार सज्जन को केंद्रीय दूरसंचार मंत्री बनवाकर चार हजार करोड़ डॉलर (दो लाख करोड़) सार्वजनिक धन खा लिया, उन महोदय ने टू-जी दूरसंचार स्पेक्ट्रम की कीमत बेहद कम करके आंकी और अपने यारों के हवाले कर दिया। प्रेस में लीक हुए टेलीफोन टेप संभाषणों ने बताया कि कैसे उद्योगपतियों का नेटवर्क और उनकी अग्र कंपनियां, मंत्रीगण, वरिष्ठ पत्रकार और टीवी एंकर इस दिनदहाड़े वाली डकैती की मदद में मुब्तिला थे। टेप तो बस एक एमआरआई थे जिन्होंने उस निदान की पुष्टि की जो लोग बहुत पहले कर चुके थे।

निजीकरण और दूरसंचार स्पेक्ट्रम की अवैध बिक्री में युद्ध, विस्थापन और पारिस्थितिकीय विनाश शामिल नहीं हैं। मगर भारत के पर्वतों, नदियों और वनों के मामले में ऐसा नहीं है। शायद इसलिए कि इसमें खुल्लमखुल्ला

लेखापद्धति घोटाले जैसी स्पष्ट सरलता नहीं है, या शायद इसलिए कि यह सब भारत के 'विकास' के नाम पर किया जा रहा है, इस वजह से मध्य वर्ग के बीच इसकी वैसी अनुगूंज नहीं है।

कैसा संयोग?

2005 में छत्तीसगढ़, ओडिशा और झारखंड की राज्य सरकारों ने बहुत सारे निजी कॉर्पोरेशनों के साथ सैकड़ों समझौता-पत्रों (एमओयू) पर दस्तखत कर मुक्त बाजार के विकृत तर्क को भी धता बताकर खरबों रुपए के बॉक्साइट, लौह अयस्क और अन्य खनिज उन्हें कौड़ियों के दाम दे दिए। (सरकारी रॉयल्टी 0.5 प्रतिशत से 7 प्रतिशत के बीच थी।)

टाटा स्टील के साथ बस्तर में एक एकीकृत इस्पात संयंत्र के निर्माण के लिए छत्तीसगढ़ सरकार के समझौतापत्र पर दस्तखत किए जाने के कुछ ही दिनों बाद सलवा जुडूम नामक एक स्वयंभू सशस्त्र अर्धसैनिक बल का उद्घाटन हुआ। सरकार ने बताया कि सलवा जुडूम जंगल में माओवादी छापामारों के 'दमन' से त्रस्त स्थानीय लोगों का स्वयंस्फूर्त विद्रोह है। सलवा जुडूम सरकार वित्त और शस्त्रों से लैस तथा खनन निगमों से मिली सब्सिडी प्राप्त एक आधारभूमि तैयार करने का ऑपरेशन निकला। दीगर राज्यों में दीगर नामों वाले ऐसे ही अर्धसैनिक बल खड़े किए गए। प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि माओवादी 'सुरक्षा के लिए भारत में एकमात्र और सबसे बड़ा खतरा हैं'। यह जंग का ऐलान था।

2 जनवरी, 2006 को पड़ोसी राज्य ओडिशा के कलिंगनगर जिले में, शायद यह बताने के लिए कि सरकार अपने इरादों को लेकर कितनी गंभीर है, टाटा इस्पात कारखाने की दूसरी जगह पर पुलिस की दस पलटनें आईं और उन गांव वालों पर गोली चला दी जो वहां विरोध प्रदर्शन के लिए इकट्ठा हुए थे। उनका कहना था कि उन्हें जमीन के लिए जो मुआवजा मिल रहा है वह कम है। एक पुलिसकर्मी समेत 13 लोग मारे गए और सैंतीस घायल हुए। छह साल बीत चुके हैं, यद्यपि सशस्त्र पुलिस द्वारा गांव की घेरेबंदी जारी है मगर विरोध ठंडा नहीं पड़ा है।

इस बीच सलवा जुडूम छत्तीसगढ़ में वनों में बसे सैकड़ों गांवों से आग लगाता, बलात्कार और हत्याएं करता बढ़ता रहा। इसने 600 गांवों को खाली करवाया, 50,000 लोगों को पुलिस कैंपों में आने और 350,000 लोगों को भाग जाने के लिए विवश किया। मुख्यमंत्री ने घोषणा की कि जो जंगलों से बाहर नहीं आएंगे उन्हें 'माओवादी उग्रवादी' माना जायेगा। इस तरह, आधुनिक भारत के हिस्सों में, खेत जोतने और बीज बोने जैसी कामों को आतंकवादी गतिविधियों के तौर पर परिभाषित किया गया। कुल मिला कर सलवा जुडूम के अत्याचारों ने माओवादी छापामार सेना के संख्याबल में बढ़ोत्तरी और प्रतिरोध में मजबूती लाने में मदद की। सरकार ने 2009 में वह शुरू किया जिसे ऑपरेशन ग्रीन हंट कहा जाता है। छत्तीसगढ़, ओडिशा, झारखंड और पश्चिम बंगाल में अर्धसैनिक बलों के दो लाख जवान तैनात किए गए।

तीन वर्ष तक चले 'कम तीव्रता संघर्ष' के बाद जो बागियों को जंगलों से बाहर 'फ्लश' (एक झटके में बाहर निकालने) करने में कामयाब नहीं हो पाया, केंद्र सरकार ने घोषणा की कि वह भारतीय सेना और वायु सेना तैनात करेगी। भारत में हम इसे जंग नहीं कहते। हम इसे 'निवेश के लिए अच्छी स्थितियां तैयार करना' कहते हैं। हजारों

सैनिक पहले ही आ चुके हैं। ब्रिगेड मुख्यालय और सैन्य हवाई अड्डे तैयार किए जा रहे हैं। दुनिया की सबसे बड़ी सेनाओं में से एक सेना अब दुनिया के सबसे गरीब, सबसे भूखे, और सबसे कुपोषित लोगों से अपनी 'रक्षा' करने के लिए लड़ाई की शर्तें (टर्म्स ऑफ एंगेजमेंट) तैयार कर रही है। अब महज आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट (एएफएसपीए) के लागू होने का इंतजार है, जो सेना को कानूनी छूट और 'शक की बिन्हा' पर जान से मार देने का अधिकार दे देगा। कश्मीर, मणिपुर और नागालैंड में दसियों हजार बेनिशां कब्रों और बेनाम चिताओं पर अगर गौर किया जाए तो सचमुच ही सेना ने स्वयं को बेहद संदेहास्पद बना दिया है।

तैनाती की तैयारियां तो चल ही रही हैं, मध्य भारत के जंगलों की घेरेबंदी जारी है और ग्रामीण बाहर निकलने से, खाद्य सामग्री और दवाइयां खरीदने बाजार जाने से डर रहे हैं। भयावह, अलोकतांत्रिक कानूनों के अंतर्गत माओवादी होने के आरोप में सैकड़ों लोगों को कैद में डाल दिया गया है। जेलें आदिवासी लोगों से भरी पड़ी हैं जिनमें बहुतों को यह भी नहीं पता कि उनका अपराध क्या है। हाल ही में सोनी सोरी, जो बस्तर की एक आदिवासी अध्यापिका हैं, को गिरफ्तार कर पुलिस हिरासत में यातनाएं दी गईं। इस बात का 'इकबाल' करवाने के लिए कि वे माओवादी संदेशवाहक हैं उनके गुप्तांग में पत्थर भरे गए थे। कोलकाता के एक अस्पताल में उनके शरीर से पत्थर निकाले गए। वहां उन्हें काफी जन आक्रोश के बाद चिकित्सा जांच के लिए भेजा गया था। उच्चतम न्यायालय की हालिया सुनवाई में एक्टिविस्टों ने न्यायाधीशों को प्लास्टिक की थैली में पत्थर भेंट किए। उनके प्रयासों से केवल यह नतीजा निकला कि सोनी सोरी अब भी जेल में हैं और जिस पुलिस अधीक्षक अंकित गर्ग ने सोनी सोरी से पूछताछ की थी उसे गणतंत्र दिवस पर वीरता के लिए राष्ट्रपति का पुलिस पदक प्रदान किया गया।

मास मीडिया की सीमाएं

हमें मध्य भारत की एन्वाइरमेन्टल और सोशल रीइंजीनियरिंग के बारे में सिर्फ व्यापक विद्रोह और जंग की वजह से खबरें मिल पाती हैं। सरकार कोई सूचना जारी नहीं करती। सारे समझौता-पत्र (एमओयू) गोपनीय हैं। मीडिया के कुछ हिस्सों ने, मध्य भारत में जो कुछ हो रहा है, उस ओर सबका ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की है। परंतु ज्यादातर मास-मीडिया इस कारण कमजोर पड़ जाता है कि उसकी कमाई का अधिकांश हिस्सा कॉर्पोरेट विज्ञापनों से आता है। पर अब तो रही सही कसर भी पूरी हो गई है। मीडिया और बड़े व्यवसायों के बीच की विभाजक रेखा खतरनाक ढंग से धुंधलाने लगी है। जैसा कि हम देख चुके हैं, आरआइएल 27 टीवी चौनलों का करीब-करीब मालिक है। मगर इसका उल्टा भी सच है। कुछ मीडिया घरानों के अब सीधे-सीधे व्यवसायिक और कॉर्पोरेट हित हैं। उदाहरण के लिए, इस क्षेत्र के प्रमुख दैनिक समाचारपत्रों में से एक - दैनिक भास्कर (और यह बस एक उदाहरण है) - के 13 राज्यों में चार भाषाओं के, जिनमें हिंदी और अंग्रेजी दोनों शामिल हैं, एक करोड़ 75 लाख पाठक हैं। यह 69 कंपनियों का मालिक भी है जो खनन, ऊर्जा उत्पादन, रीयल एस्टेट और कपड़ा उद्योग से जुड़े हैं। छत्तीसगढ़ उच्च-न्यायालय में हाल ही में दायर की गई एक याचिका में डी बी पावर लिमिटेड (दैनिक भास्कर समूह की कंपनियों में से एक) पर कोयले की एक खुली खदान को लेकर हो रही जन-सुनवाई के परिणाम को प्रभावित करने हेतु कंपनी की मिल्कियत वाले अखबारों द्वारा "जानबूझ कर, अवैध और प्रभावित करनेवाले

तरीके" अपनाने का आरोप लगाया गया। यहां यह बात प्रासंगिक नहीं कि उन्होंने परिणाम को प्रभावित करने की कोशिश की या नहीं। मुद्दा यह है कि मीडिया घराने ऐसा करने की स्थिति में है। ऐसा करने की ताकत भी उनके पास है। देश के कानून उन्हें ऐसी स्थिति में होने की इजाजत देते हैं जो हितों के गंभीर टकराव वाली स्थितियां हैं।

देश के और भी हिस्से हैं जहां से कोई खबर नहीं आती। बहुत ही कम जनसंख्या वाले पर सैन्यीकृत उत्तर-पूर्वी राज्य अरुणाचल प्रदेश में 168 बड़े बांध बनाये जा रहे हैं जिनमें अधिकतर निजी क्षेत्र के हैं। मणिपुर और कश्मीर में ऊंचे बांध बनाये जा रहे हैं जो समूचे जिलों को डुबो देंगे, ये दोनों ही अत्यंत सैन्यीकृत राज्य हैं जहां सिर्फ बिजली की कटौती का विरोध करने के लिए भी लोगों को मारा जा सकता है। (ऐसा कुछ ही हफ्तों पहले कश्मीर में हुआ।) तो वे बांध का निर्माण कैसे रोक सकते हैं?

विकृत सपने

गुजरात का कल्पसर बांध सर्वाधिक भ्रांतिकारी है। इसकी योजना खंभात की खाड़ी में एक 34 किमी लंबे बांध के रूप में बनाई जा रही है जिसके ऊपर एक दस लेन हाइवे और एक रेलवे लाइन भी होगी। समुद्र के पानी को बाहर कर गुजरात की नदियों के मीठे पानी का जलाशय बनाने का इरादा है। (यह बात और है कि इन नदियों की अंतिम बूंद तक पर बांध बना दिया गया है और रासायनिक निस्सारण से ये जहरीली हो चुकी हैं।) कल्पसर बांध को, जो समुद्र सतह को बढ़ाएगा और समुद्र तट की सैकड़ों किलोमीटर की पारिस्थितिकी को बदल देगा, दस साल पहले ही एक हानिकारक विचार मान कर खारिज कर दिया गया था। इसकी अचानक वापसी इसलिए हुई है क्योंकि धोलेरा विशेष निवेश क्षेत्र (स्पेशल इंवेस्टमेंट रीजन या एसआइआर) को पानी की आपूर्ति की जा सके जो भारत ही नहीं बल्कि दुनिया भर के सबसे कम पानी वाले भूभागों में से एक में स्थित है। एसईजेड का ही दूसरा नाम है एसआइआर, मतलब 'औद्योगिक पार्कों, उपनगरों (टाउनशिप) और मेगाशहरों' का स्वशासित कॉर्पोरेट नरक (डिस्टोपिया)। धोलेरा एसआइआर को दस लेन राजमार्गों के जाल से गुजरात के अन्य शहरों से जोड़ा जाएगा। इन सब के लिए पैसा कहां से आएगा?

जनवरी, 2011 में महात्मा (गांधी) मंदिर में गुजरात के मुख्य मंत्री नरेंद्र मोदी ने 100 देशों से आये 10,000 अंतर्राष्ट्रीय कारोबारियों के सम्मेलन की अध्यक्षता की। मीडिया की रिपोर्टों के अनुसार उन्होंने गुजरात में 45,000 करोड़ डॉलर निवेश करने का वादा किया है। फरवरी-मार्च, 2002 में हुए 2,000 मुसलमानों के कत्लेआम की दसवीं बरसी की शुरुआत के मौके पर ही वह सम्मेलन होने वाला था। मोदी पर न केवल हत्याओं की अनदेखी करने का बल्कि सक्रिय रूप से उन्हें बढ़ावा देने का भी आरोप है। जिन लोगों ने अपने प्रियजनों का बलात्कार होते, उन्हें टुकड़े-टुकड़े होते और जिंदा जलाये जाते देखा है, जिन दसियों हजार लोगों को अपना घर छोडने के लिए मजबूर किया गया था, वे अब भी इंसाफ के हल्के से इशारे के मुंतजिर हैं। मगर मोदी ने अपना केसरिया दुपट्टा और सिंदूरी माथा चमकदार बिजनेस सूट से बदल लिया है और उन्हें उम्मीद है कि 45,000 करोड़ डॉलर का निवेश ब्लड मनी (मुआवजे) के तौर पर काम करेगा और हिसाब बराबर हो जाएगा। शायद ऐसा हो भी जाए। बड़ा व्यवसाय उत्साह से उनका समर्थन कर रहा है। अपरिमित न्याय का बीजगणित रहस्यमय तरीकों से काम करता है।

धोलेरा एसआइआर छोटी मात्रियोश्का गुड़ियों में एक है, जिस नरक की योजना बनाई जा रही है उसकी एक अंदर वाली गुड़िया। ये दिल्ली मुंबई औद्योगिक गलियारे (डीएमआइसी) से जोड़ा जायेगा, डीएमआइसी एक 1500 किमी लंबा और 300 किमी चौड़ा औद्योगिक गलियारा होगा जिसमें नौ बहुत बड़े औद्योगिक क्षेत्र, एक तीव्र-गति मालवाहक रेल लाइन, तीन बंदरगाह और छह हवाई अड्डे, एक छह लेन का बिना चौराहों (इंटरसेक्शन) वाला द्रुतगति मार्ग और एक 4000 मेगावाट का ऊर्जा संयंत्र होगा। डीएमआइसी भारत और जापान की सरकारों और उनके अपने-अपने कॉर्पोरेट सहयोगियों का साझा उद्यम है और उसे मेकिंजी ग्लोबल इंस्टिट्यूट ने प्रस्तावित किया है।

डीएमआइसी की वेबसाइट कहती है कि इस प्रोजेक्ट से लगभग 18 करोड़ लोग 'प्रभावित' होंगे। वास्तव में वे किस प्रकार प्रभावित होंगे यह नहीं बताया गया। कई नए शहरों का निर्माण किए जाने का अनुमान है और अंदाजा है कि 2019 तक इस क्षेत्र की जनसंख्या वर्तमान 23.1 करोड़ से बढ़कर 31.4 करोड़ हो जाएगी। क्या आपको याद है कि आखिरी बार कब किसी राज्य, निरंकुश शासक या तानाशाह ने दसियों लाख लोगों की जनसंख्या को स्थानांतरित किया था? क्या यह प्रक्रिया शांतिपूर्ण हो सकती है?

भारतीय सेना को शायद भर्ती अभियान चलाना पड़ेगा ताकि जब उसे भारत भर में तैनाती का आदेश मिले तो शर्मिंदगी का सामना न करना पड़े। मध्य भारत में अपनी भूमिका की तैयारी में भारतीय सेना ने सैन्य मनोवैज्ञानिक परिचालन (मिलिटरी साइकोलॉजिकल ऑपरेशंस) पर अपना अद्यतन सिद्धांत सार्वजनिक रूप से जारी किया, जो 'वांछित प्रवृत्तियों और आचरण पैदा करने वाली खास विषय वस्तुओं को बढ़ावा देने के लिए चुनी हुई लक्षित जनता तक संदेश संप्रेषित करने की नियोजित प्रक्रिया' का खाका खींचती है 'जो देश के राजनीतिक और सैनिक उद्देश्यों की प्राप्ति पर असर डालती है'। इसके अनुसार 'अभिज्ञता प्रबंधन' की यह प्रक्रिया, 'सेना को उपलब्ध संचार माध्यमों' के द्वारा संचालित की जायेगी।

अपने अनुभव से सेना को पता है कि जिस पैमाने की सामाजिक इंजीनियरिंग भारत के योजनाकर्ताओं ने सोची है उसे केवल बलपूर्वक प्रबंधित और कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। गरीबों के खिलाफ जंग एक बात है। मगर हम जैसे बाकी बचे लोगों के लिए - मध्य वर्ग, सफेदपोश कर्मी, बुद्धिजीवी, 'अभिमत बनाने वाले' - तो यह 'अभिज्ञता प्रबंधन' ही चाहिए होगा। और इसके लिए हमें अपना ध्यान 'कॉर्पोरेट परोपकार' की उत्कृष्ट कला की ओर ले जाना होगा।

खुशी का उत्खनन

हाल के दिनों में प्रमुख खनन समूहों ने कला को अंगीकार कर लिया है - फिल्में, कला और साहित्यिक समारोहों की बढ़ती भीड़ ने नब्बे के दशक की सौंदर्य प्रतियोगिताओं को लेकर पाए जाने वाले जुनून की जगह ले ली है। वेदांता, जो फिलहाल बॉक्साइट के लिए प्राचीन डोंगरिया कोंध जनजाति की जन्मभूमि को बेतहाशा खोद रही है, युवा सिने विद्यार्थियों के बीच 'क्रिएटिंग हैपिनेस' नामक फिल्म प्रतियोगिता प्रायोजित कर रही है। इन विद्यार्थियों को वेदान्ता ने संवहनीय विकास अर्थात सस्टेनेबल डेवलपमेंट पर फिल्में बनाने हेतु नियुक्त किया है। वेदान्ता की

टैगलाइन है 'माइनिंग हैपिनेस' (खुशी का उत्खनन)। जिंदल समूह समकालीन कला पर केंद्रित एक पत्रिका निकालता है और भारत के कुछ बड़े कलाकारों की सहायता करता है (जो स्वाभाविक है कि इनका माध्यम स्टेनलेस स्टील है।) तहलका न्यूजवीक थिंक फेस्ट (चिंतन महोत्सव) का एसार समूह प्रमुख प्रायोजक था जिसमें वादा किया गया था कि दुनिया के अग्रणी चिंतकों के बीच, जिनमें बड़े लेखक, एक्टिविस्ट और वास्तुविद फ्रैंक गैरी तक शामिल थे, तेजतर्रार बहसें हाई आक्टेन डिबेट्स होंगीं। (ये सब गोवा में हो रहा था, जहां एक्टिविस्ट और पत्रकार भीमकाय अवैध खनन घोटालों को उजागर कर रहे थे और बस्तर में युद्ध में एस्सार की भूमिका सामने आने लगी थी।) टाटा स्टील और रिओ टिंटो (जिसका अपना ही घिनौना इतिहास है) जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल (वैज्ञानिक नाम - दर्शन सिंह कन्सट्रक्शन्स जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल) के मुख्य प्रायोजकों में थे जिसको कला-मर्मज्ञों ने 'धरती का महानतम साहित्यिक उत्सव' कहकर विज्ञापित किया है। काउन्सेलेज ने, जो टाटा की स्ट्रेटेजिक ब्रांड मैनेजर है, फेस्टिवल का प्रेस तंबू प्रायोजित किया। दुनिया के बेहतरीन और प्रतिभाशाली लेखकों में से कई जयपुर में प्रेम, साहित्य, राजनीति और सूफी शायरी पर बातें करने के लिए जमा हुए थे। उनमें से कुछ ने सलमान रुश्दी की प्रतिबंधित पुस्तक सैटनिक वर्सेज का पाठ करके उनकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का बचाव करने की कोशिश की। हर टीवी फ्रेम और अखबारी तस्वीर में, लेखकों के पीछे टाटा का लोगो (और उनकी टैगलाइन -वैल्यूज स्ट्रांगर दैन स्टील- इस्पात से मजबूत मूल्य) एक सौम्य और परोपकारी मेजबान के रूप में छाया था। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की दुश्मन कथित रूप से हिंसक मुसलमानों की वह भीड़ थी जो, जैसा कि आयोजकों ने हमें बताया, वहां इकठ्ठा हुए स्कूली बच्चों तक को नुकसान पहुंचा सकती थी। (हम इस बात के गवाह हैं कि मुसलमानों के बारे में भारत सरकार और पुलिस कितनी असहाय हो सकती है।) हां, कट्टरपंथी देवबंदी इस्लामी मदरसे ने रुश्दी को फेस्टिवल में बुलाये जाने का विरोध किया। हां, कुछ इस्लामवादी निश्चय ही आयोजन स्थल पर विरोध प्रदर्शित करने के लिए एकत्रित हुए थे और हां, भयावह बात यह है कि आयोजन स्थल की रक्षा करने के लिए राज्य सरकार ने कुछ नहीं किया। वह इसलिए कि पूरे घटनाक्रम का लोकतंत्र, वोटबैंक और उत्तर प्रदेश चुनावों से उतना ही लेना-देना था जितना इस्लामवादी कट्टरपंथ से। मगर इस्लामवादी कट्टरपंथ के विरुद्ध अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की लड़ाई ने दुनिया भर के अखबारों में जगह पाई। यह अहम् बात है कि ऐसा हुआ। मगर फेस्टिवल के प्रायोजकों की जंगलों में चल रहे युद्ध, लाशों के ढेर लगने और जेलों के भरते जाने में भूमिका के बारे में शायद ही कोई रिपोर्ट हो। या फिर गैरकानूनी गतिविधि प्रतिबंधक विधेयक या छतीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा विधेयक के बारे में कोई रिपोर्ट जो सरकार-विरोधी बात सोचने तक को संज्ञेय अपराध बनाते हैं। या फिर लोहंडीगुडा के टाटा इस्पात संयंत्र को लेकर अनिवार्य जन सुनवाई के बारे में, जो स्थानीय लोगों की शिकायत के अनुसार वास्तव में सैकड़ों मील दूर जगदलपुर में जिलाधीश कार्यालय के प्रांगण में किराये पर लाए गए पचास लोगों की उपस्थिति में और हथियारबंद सुरक्षा के बीच हुई। उस वक्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कहां थी? किसी ने कलिंगनगर का जिक्र नहीं किया। किसी ने जिक्र नहीं किया कि भारत सरकार को जो विषय अप्रिय हैं उन पर - जैसे श्रीलंका के युद्ध में तमिलों के नरसंहार में उसकी गुप्त भूमिका या कश्मीर में हाल में खोजी गईं बेनिशान कब्रें - काम करने वाले पत्रकारों, अकादमिकों और फिल्म बनाने वालों के वीजा अस्वीकृत किए जा रहे हैं या उन्हें एअरपोर्ट से सीधे निर्वासित कर दिया जा रहा है।

मगर हम पापियों में कौन पहला पत्थर उछालने वाला था? मैं तो नहीं, जो कॉर्पोरेट प्रकाशन गृहों से मिलने वाली रॉयल्टियों पर गुजर करती हूं। हम सब टाटा स्काई देखते हैं, टाटा फोटॉन से इंटरनेट पर विचरण करते हैं, टाटा टैक्सियों में घूमते हैं, टाटा होटलों में रहते हैं, टाटा की चीनी मिट्टी के कप में अपनी टाटा चाय की चुस्कियां लेते हैं और उसे टाटा स्टील से बने चम्मच से घोलते हैं। हम टाटा की किताबें टाटा की किताबों की दुकान से खरीदते हैं। हम टाटा का नमक खाते हैं। हम घेर लिए गए हैं।

अगर नैतिक पवित्रता के हथौड़े को पत्थर फेंकने का मापदंड होना है, तो केवल वे ही लोग योग्य हैं जिन्हें पहले ही खामोश कर दिया गया है। जो लोग इस व्यवस्था से बाहर रहते हैं; जंगल में रहने वाले अपराधी घोषित कर दिए लोग, या वे जिनका विरोध प्रेस कभी कवर नहीं करता, या फिर वे शालीन विस्थापित जन जो इस ट्राइब्यूनल से उस ट्राईब्यूनल तक साक्ष्यों को सुनते हैं और साक्ष्य बनते, घूमते हैं।

मगर लिट्फेस्ट ने हमें वाह! वाह! का मौका तो दिया ही। ओपरा आईं। उन्होंने कहा भारत मुझे पसंद आया और मैं बार-बार यहां आउंगीं। इसने हमें गौरवान्वित किया।

ये उत्कृष्ट कला का प्रहसनात्मक अंत है।

वैसे तो टाटा लगभग सौ सालों से कॉर्पोरेट परोपकार में शामिल है, छात्रवृत्तियां प्रदान कर और कुछ बेहतरीन शिक्षा संस्थान व अस्पताल चलाकर। पर भारतीय निगमों को इस स्टार चेंबर, या कैमेरा स्टेलाटा में हाल ही में आमंत्रित किया गया है। कैमेरा स्टेलाटा वैश्विक कॉर्पोरेट सरकार की वह चमचमाती दुनिया है जो उसके विरोधियों के लिए तो मारक है मगर वैसे इतनी कलात्मक है कि आपको उसके अस्तित्व का पता ही नहीं चलता।

परोपकार की धारा

इस निबंध में आगे जो आने वाला है, वह कुछ लोगों को किंचित कटु आलोचना प्रतीत होगी। दूसरी ओर, अपने विरोधियों का सम्मान करने की परंपरा में, इसे उन लोगों की दृष्टि, लचीलेपन, परिष्करण और दृढ़ निश्चय की अभिस्वीकृति के तौर पर भी पढ़ा जा सकता है, जिन्होंने अपनी जिंदगियां दुनिया को पूंजीवाद के लिए सुरक्षित रखने हेतु समर्पित कर दी हैं।

उनका सम्मोहक इतिहास, जो समकालीन स्मृति से धुंधला हो गया है, अमेरिका में बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में आरंभ हुआ, जब दानप्राप्त फाउंडेशनों के रूप में कानूनन खड़े किए जाने पर कॉर्पोरेट परोपकार ने पूंजीवाद के (और साम्राज्यवाद) के लिए रास्ते खोलने वाले और मुस्तैद निगहबानी करने वाले की भूमिका से मिशनरी गतिविधियों की जगह लेनी शुरू की। अमेरिका में स्थापित किए गए शुरुआती फाउंडेशनों में थे कार्नेगी स्टील कंपनी के मुनाफों से मिले दान से 1911 में कार्नेगी कारपोरेशन; और स्टैण्डर्ड आयल कंपनी के संस्थापक जे. डी. रॉकफेलर के दान से 1914 में बना रॉकफेलर फाउंडेशन। उस समय के टाटा और अंबानी।

रॉकफेलर फाउंडेशन द्वारा वित्तपोषित, प्रारंभिक निधि प्राप्त या सहायता प्राप्त कुछ संस्थान हैं संयुक्त राष्ट्र संघ, सीआइए, काउंसिल फॉर फॉरेन रिलेशंस, न्यूयॉर्क का बेहद शानदार म्यूजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट और बेशक न्यूयॉर्क का रॉकफेलर सेंटर (जहां डिएगो रिविएरा को म्यूरल दीवार से तोड़ कर हटा दिया गया था क्योंकि उसमें

शरारतपूर्ण ढंग से मूल्यहीन पूंजीपतियों और वीर लेनिन को दर्शाया गया था। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता उस दिन छुट्टी मना रही थी।)

जे.डी. रॉकफेलर अमेरिका के पहले अरबपति और दुनिया के सबसे अमीर आदमी थे। वे दासता-विरोधी, अब्राहम लिंकन के समर्थक थे और शराब को हाथ नहीं लगाते थे। उनका विश्वास था कि उनका धन भगवान का दिया हुआ है जो निश्चय ही उनके प्रति दयालु रहा होगा।

प्रस्तुत हैं 'स्टैण्डर्ड आयल कंपनी' शीर्षक पाब्लो नेरुदा की एक शुरुआती कविता के अंशः

न्यूयॉर्क के उनके थुलथुल बादशाह लोग
सौम्य मुस्कराते हत्यारे हैं
जो खरीदते हैं रेशम, नायलॉन, सिगार,
हैं छोटे-मोटे आततायी और तानाशाह।
वे खरीदते हैं देश, लोग, समंदर, पुलिस, विधान/सभाएं,
दूरदराज के इलाके जहां गरीब इकट्ठा करते हैं/अनाज
जैसे कंजूस जोड़ते हैं सोना,
स्टैंडर्ड आयल उन्हें जगाती है,
वर्दियां पहनाती है,
बताती है कि कौन-सा भाई है शत्रु उनका।
उसकी लड़ाई पराग्वे वासी लड़ता है
और बोलीवियाई जंगलों में इसकी मशीनगनों के साथ भटकता है।
पेट्रोलियम की एक बूंद के लिए मार डाला गया/ एक राष्ट्रपति,
दस लाख एकड़ रेहन रखता है,
उजाले से मृत पथरायी हुई एक सुबह तेजी से/ दिया जाता है मृत्युदंड ,
बागियों के लिए एक नया कैदखाना
पातागोनिया में, एक विश्वासघात, पेट्रोलियम/ चांद के तले
गोलियों की छिट पुट आवाजें, राजधानी में
मंत्रियों को उस्तादी से बदलना,
राजधानी में, एक फुसफुसाहट
तेल की लहरों जैसी
और फिर प्रहार। आप देखेंगे
कि कैसे स्टैंडर्ड आयल के शब्द चमकते हैं/ बादलों के ऊपर,
समंदरों के ऊपर, आपके घर में
अपने प्रभाव क्षेत्र को जगमगाते हुए।

करों से मुक्ति का मार्ग

अमेरिका में जब पहले-पहल कॉर्पोरेट धनप्राप्त फाउंडेशनों का आविर्भाव हुआ तो वहां उनके उद्गम, वैधता और उत्तरदायित्व के अभाव को लेकर तीखी बहस हुई। लोगों ने सलाह दी कि अगर कॉर्पोरेशनों के पास इतना अधिशेष है, तो उन्हें मजदूरों की तनख्वाहें बढ़ानी चाहिए। (उन दिनों अमेरिका में भी लोग ऐसी बेहूदा सलाहें दिया करते थे।) इन फाउंडेशनों का विचार, जो आज मामूली बात लगता है, दरअसल कारोबारी कल्पना की एक ऊंची छलांग था। करों से मुक्त वैध संस्थाएं जिनके पास अत्यधिक संसाधन और लगभग असीमित योजनाएं हों - जवाबदेही से पूर्णतः मुक्त, पूर्णतः अपारदर्शी - आर्थिक संपत्ति को राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पूंजी में बदलने का इससे बढ़िया तरीका और क्या हो सकता है? सूदखोरों के लिए अपने मुनाफों के एक रत्तीभर प्रतिशत को दुनिया को चलाने में इस्तेमाल करने का इससे बढ़िया तरीका और क्या हो सकता है? वरना बिल गेट्स जो, खुद कहते हैं कि वे कंप्यूटर के बारे में भी एक-दो चीजें ही जानते हैं, सिर्फ अमेरिकी सरकार के लिए ही नहीं बल्कि दुनिया भर की सरकारों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि नीतियां तैयार करते पाए जाते हैं?

विगत वर्षों में जब लोगों ने फाउंडेशनों द्वारा की गई कुछ सचमुच अच्छी चीजें (सार्वजनिक पुस्तकालय चलाना, बीमारियों का उन्मूलन) देखीं - वहीं कॉर्पोरेशनों और उनसे पैसा प्राप्त फाउंडेशनों के बीच का सीधा संबंध धुंधलाने लगा। अंततः वह पूरी तरह धुंधला पड़ा गया। आज तो अपने आप को वामपंथी समझने वाले तक उनकी दानशीलता स्वीकारने से शर्माते नहीं हैं।

1920 के दशक तक अमेरिकी पूंजीवाद ने कच्चे माल और विदेशी बाजार के लिए बाहर नजर डालना शुरू कर दिया था। फाउंडेशनों ने वैश्विक कार्पोरेट प्रशासन के विचार का प्रतिपादन शुरू किया। 1924 में रॉकफेलर और कार्नेगी फाउंडेशनों ने मिलकर काउंसिल फॉर फॉरेन रिलेशंस (सीएफआर – विदेश संबंध परिषद) की स्थापना की जो आज दुनिया का सबसे शक्तिशाली विदेश नीति दबाव-समूह है। सीएफआर को बाद में फोर्ड फाउंडेशन से भी अनुदान मिला। सन 1947 के आते-आते सीएफआर नवगठित सीआईए को पूरा समर्थन देने लगा और वे साथ मिलकर काम करने लगे। अब तक अमेरिका के 22 गृह-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) सीएफआर के सदस्य रह चुके हैं। सन 1943 की परिचालन समिति में, जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना बनाई थी, पांच सीएफआर सदस्य थे, और आज न्यूयॉर्क में जहां सं.रा.संघ का मुख्यालय खड़ा है वह जमीन जे.डी. रॉकफेलर द्वारा मिले 850 करोड़ डॉलर के अनुदान से खरीदी गई थी।

1946 से लेकर आज तक विश्व बैंक के सभी ग्यारह अध्यक्ष - वे लोग जो स्वयं को गरीबों का मिशनरी बतलाते हैं - सीएफआर के सदस्य रहे हैं। (जॉर्ज वुड्स इसके अपवाद हैं और वे रॉकफेलर फाउंडेशन के ट्रस्टी और चेज-मैनहटन बैंक के उपाध्यक्ष थे।)

सद्भावना का अंतरराष्ट्रीय चेहरा

ब्रेटन वुड्स में विश्व बैंक और आइएमएफ (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष) ने निर्णय लिया कि अमेरिकी डॉलर को विश्व की संचय मुद्रा (रिजर्व करंसी) होना चाहिए और यह कि वैश्विक पूंजी की पैठ को और बढ़ाने के लिए जरूरी होगा कि एक मुक्त बाजार व्यवस्था में प्रयुक्त व्यवसायिक कार्यप्रणालियों का सार्वभौमीकरण और मानकीकरण किया जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे गुड गवर्नेंस (जब तक डोरी उनके हाथों में रहे) और रूल ऑफ लॉ अर्थात कानून-व्यवस्था (बशर्ते कानून बनाने में उनकी चले) की संकल्पना और सैकड़ों भ्रष्टाचार-विरोधी कार्यक्रमों (उनकी बनाई हुई व्यवस्था को सरल और कारगर बनाने हेतु) को बढ़ावा देने के लिए इतना पैसा खर्च करते हैं। विश्व की दो सर्वाधिक अपारदर्शी और जवाबदेह-रहित संस्थाएं गरीब देशों की सरकारों से पारदर्शिता और उत्तरदायित्व की मांग करती फिरती हैं।

ये देखते हुए कि एक के बाद दूसरे देश के बाजारों को बलपूर्वक और जबरदस्ती वैश्विक वित्त के लिए खुलवाकर विश्व बैंक ने तीसरी दुनिया की आर्थिक नीतियों को लगभग निर्देशित किया है, कहा जा सकता है कि कॉर्पोरेट परोपकार आज तक का सबसे दिव्य धंधा साबित हुआ है।

कॉर्पोरेट-धनप्राप्त फाउंडेशन अभिजात क्लबों और थिंक-टैंकों (चिंतन मंडलियों) की व्यवस्था के द्वारा अपनी शक्ति का इस्तेमाल करते हैं और अपने खिलाडियों को शतरंज की बिसात पर इन विशिष्ट क्लबों और थिंक-टैंकों के जरिये बैठाते हैं। इनके सदस्य साझा होते हैं और घूमते दरवाजों से अंदर बाहर होते रहते हैं। खासकर वामपंथी समूहों के बीच जो विभिन्न षड्यंत्र-गाथाएं प्रचलन में हैं, उनके उलट इस व्यवस्था के बारे में कुछ भी गोपनीय, शैतानी और गुप्त-सदस्यता जैसा नहीं है। जिस तरह कॉर्पोरेशन शैल (नाममात्र) के लिए पंजीकृत कंपनियों और अपतट (ऑफशोर) खातों का इस्तेमाल पैसे के हस्तांतरण और प्रबंधन के लिए करते हैं, यह तरीका उससे बहुत अलग नहीं है। फर्क इतना ही है कि यहां प्रचलित मुद्रा ताकत है, पैसा नहीं।

सीएफआर का अंतर्राष्ट्रीय समतुल्य है तीन आयामी आयोग, जिसकी स्थापना 1973 में डेविड रॉकफेलर, अमेरिका के पूर्व राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ज्बीग्न्येफ ब्रजिन्स्की (अफगान मुजाहिद्दीन अर्थात तालिबान के पूर्वज का संस्थापक-सदस्य), चेज-मैनहटन बैंक और कुछ अन्य निजी प्रतिष्ठानों ने मिलकर की थी। इसका उद्देश्य था उत्तरी अमेरिका, योरोप और जापान के अभिजातों के बीच मैत्री और सहकार्य का एक चिरस्थायी बंधन तैयार करना। ये अब एक पंचकोणीय आयोग बन गया है क्योंकि इसमें अब भारत और चीन के सदस्य भी शामिल हैं। (सीआइआइ के तरुण दास; इनफोसिस के पूर्व-सीईओ एन.आर.नारायणमूर्ति; गोदरेज के प्रबंध निदेशक जमशेद एन. गोदरेज; टाटा संस के निदेशक जमशेद जे. ईरानी; और अवंता समूह के सीईओ गौतम थापर)।

द ऐस्पन इंस्टीट्यूट स्थानीय अभिजातों, व्यवसायिकों, नौकरशाहों, राजनीतिकों का एक अंतर्राष्ट्रीय क्लब है जिसकी शाखाएं बहुत से देशों में हैं। ऐस्पन इंस्टीट्यूट की भारतीय शाखा के अध्यक्ष तरुण दास हैं। गौतम थापर सभापति हैं। मैकंजी ग्लोबल इंस्टीट्यूट (दिल्ली-मुंबई औद्योगिक गलियारे के प्रस्तावक) के कई वरिष्ठ पदाधिकारी सीएफआर के, ट्राईलैटरल कमीशन के, और द ऐस्पन इंस्टीट्यूट के सदस्य हैं।

द फोर्ड फाउंडेशन (जो किंचित अनुदार रॉकफेलर फाउंडेशन का उदारवादी रूप है, हालांकि दोनों लगातार मिलकर काम करते हैं) की स्थापना 1936 में हुई। हालांकि उसे अक्सर कम महत्त्व दिया जाता है, पर फोर्ड फाउंडेशन की एकदम साफ और पूर्णतः स्पष्ट विचारधारा है और यह अपनी गतिविधियां अमेरिकी गृहमंत्रालय के साथ बहुत नजदीकी से तालमेल बैठाकर चलाता है। लोकतंत्र और 'गुड गवर्नंस' (सुशासन) को गहराने का उनका प्रोजेक्ट मुक्त बाजार में कारोबारी कार्यप्रणालियों के मानकीकरण और कार्यक्षमता को बढ़ावा देने की ब्रेटन वुड्स स्कीम का ही हिस्सा है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद, जब अमेरिकी सरकार के शत्रु नंबर एक के तौर पर फासिस्टों की जगह कम्युनिस्टों ने ले ली थी, शीत युद्ध से निपटने के लिए नई तरह की संस्थाओं की जरूरत थी। फोर्ड ने आरएएनडी (रिसर्च एंड डेवलपमेंट कॉर्पोरेशन या रैंड) को पैसा दिया जो एक सैन्य थिंक-टैंक है और उसने शुरुआत अमेरिकी रक्षा विभाग के लिए अस्त्र अनुसंधान के साथ की। 1952 में 'मुक्त राष्ट्रों में घुसपैठ करने और उनमें अव्यवस्था फैलाने के अनवरत साम्यवादी प्रयत्नों' को रोकने के लिए उसने गणतंत्र कोष की स्थापना की, जो फिर लोकतांत्रिक संस्थानों के अध्ययन केंद्र में परिवर्तित हो गया। उसका काम था मैकार्थी की ज्यादतियों के बिना चतुराई से शीत युद्ध लड़ना। भारत में करोड़ों डालर निवेश करके जो काम फोर्ड फाउंडेशन कर रहा है - कलाकारों, फिल्मकारों और एक्टिविस्टों को दिए जाने वाली वित्तीय मददें, विश्वविद्यालयी कोर्सों और छात्रवृत्तियों हेतु उदार अनुदान — उसे हमें इस नजरिए से देखना होगा।

फोर्ड फाउंडेशन के घोषित 'मानवजाति के भविष्य के लक्ष्यों' में स्थानीय और अंतर्राष्ट्रीय जमीनी राजनीतिक आंदोलनों में हस्तक्षेप करना है। अमेरिका में इसने क्रेडिट यूनियन मूवमेंट को सहायता देने के लिए अनुदान और ऋण के तौर पर करोड़ों लाख डॉलर मुहैया करवाए। 1919 में शुरू हुए क्रेडिट यूनियन मूवमेंट के प्रणेता एक डिपार्टमेंट स्टोर के मालिक एडवर्ड फाइलीन थे। मजदूरों को वहन किए जाने योग्य ऋण उपलब्ध कराकर उपभोक्ता वस्तुओं के लिए एक विशाल उपभोक्ता समाज (मास कंजम्शन सोसाइटी) बनाने में फाइलीन का विश्वास था - जो उस समय एक क्रांतिकारी विचार था। दरअसल यह विचार केवल आधा ही क्रांतिकारी था, क्योंकि फाइलीन का जो विश्वास था उसका दूसरा आधा हिस्सा था राष्ट्रीय आय का अधिक समतापूर्ण वितरण। फाइलीन के सुझाव का पहला आधा हिस्सा पूंजीपतियों ने हथिया लिया और मेहनतकश लोगों को लाखों डॉलर के 'एफोर्डेबल' ऋण वितरित कर अमेरिका के मेहनतकश वर्ग को हमेशा के लिए कर्जे में रहने वाले लोगों में बदल दिया जो अपनी जीवन शैली को अद्यतन करते रहने के लिए हमेशा भागदौड़ में लगे रहते हैं।

बहुत सालों बाद यह विचार बांग्लादेश के दरिद्र देहाती क्षेत्र में 'ट्रिकल डाउन' (रिसकर) होकर पहुंचा जब मुहम्मद युनुस और ग्रामीण बैंक ने भूखे मरते किसानों को माइक्रोक्रेडिट (लघु वित्त) उपलब्ध करवाया जिसके विनाशकारी परिणाम हुए। भारत में लघुवित्त कंपनियां सैकड़ों आत्महत्याओं के लिए जिम्मेदार हैं - सिर्फ 2010 में ही आंध्र प्रदेश में 240 लोगों ने खुदकुशी की। हाल ही में एक राष्ट्रीय दैनिक ने एक ऐसी अठारह वर्षीय लड़की का खुदकुशी करने से पहले लिखा पत्र प्रकाशित किया था जिसे उसके पास बचे आखिरी 150 रुपए, जो उसकी स्कूल की फीस थी, लघुवित्त कंपनी के गुंडई करने वाले कर्मचारियों को देने पर मजबूर होना पड़ा। उस पत्र में लिखा था, 'मेहनत करो और पैसा कमाओ। कर्जा मत लो।'

गरीबी में बहुत पैसा है, और चंद नोबेल पुरस्कार भी।

स्वयंसेवा का मार्ग

1950 के दशक तक कई एनजीओ और अंतर्राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थानों को पैसा देने के काम के साथ-साथ रॉकफेलर और फोर्ड फाउंडेशन ने अमेरिकी सरकार की लगभग शाखाओं के तौर पर काम करना शुरू कर दिया था। अमेरिकी सरकार उस वक्त लातिन अमेरिका, ईरान और इंडोनेशिया में लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गई सरकारें गिराने में लगी हुई थी। (यही वह समय है जब उन्होंने भारत में प्रवेश किया जो गुटनिरपेक्ष था पर साफ तौर पर उसका झुकाव सोवियत संघ की तरफ था।) फोर्ड फाउंडेशन ने इंडोनेशियाई विश्वविद्यालय में एक अमेरिकी-शैली का अर्थशास्त्र का पाठ्यक्रम स्थापित किया। संभ्रांत इंडोनेशियाई छात्रों ने, जिन्हें विप्लव-प्रतिरोध (काउंटर इंसर्जंसी) में अमेरिकी सेना के अधिकारियों ने प्रशिक्षित किया था, 1965 में सीआईए-समर्थित तख्ता-पलट में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी जिसमें जनरल सुहार्तो सत्ता में आये। लाखों कम्युनिस्ट विद्रोहियों को मरवाकर जनरल सुहार्तो ने अपने सलाहकार-मददगारों का कर्जा चुका दिया।

बीस साल बाद चिली के युवा छात्रों को, जिन्हें शिकागो ब्वायज के नाम से जाना गया, शिकागो विश्वविद्यालय (जे.डी. रॉकफेलर द्वारा अनुदान प्राप्त) में मिल्टन फ्रीडमन द्वारा नवउदारवादी अर्थशास्त्र में प्रशिक्षण हेतु अमेरिका ले जाया गया। ये 1973 में हुए सीआइए-समर्थित तख्ता-पलट की पूर्व तैयारी थी जिसमें साल्वाडोर आर्येंदे की हत्या हुई और जनरल पिनोशे के साथ हत्यारे दस्तों, गुमशुदगियों और आतंक का राज आया जो सत्रह वर्ष तक चला। (आर्येंदे का जुर्म था एक लोकतांत्रिक ढंग से चुना हुआ समाजवादी होना और चीले की खानों का राष्ट्रीयकरण करना।)

1957 में रॉकफेलर फाउंडेशन ने एशिया में सामुदायिक नेताओं के लिए रेमन मैग्सेसे पुरस्कार की स्थापना की। इसे फिलीपीन्स के राष्ट्रपति रेमन मैग्सेसे का नाम दिया गया जो दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्यवाद के खिलाफ अमेरिका के अभियान के महत्त्वपूर्ण सहयोगी थे। 2000 में फोर्ड फाउंडेशन ने रेमन मैग्सेसे इमर्जंट लीडरशिप पुरस्कार की स्थापना की। भारत में कलाकारों, एक्टिविस्टों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच मैग्सेसे पुरस्कार की बड़ी प्रतिष्ठा है। एम.एस. सुब्बलक्ष्मी को यह पुरस्कार मिला था और उसी तरह जयप्रकाश नारायण और भारत के बेहतरीन पत्रकार पी. साइनाथ को भी। मगर जितना फायदा पुरस्कार से इन लोगों का हुआ उस से अधिक इन्होंने पुरस्कार को पहुंचाया। कुल मिला कर यह इस बात का नियंता बन गया है कि किस प्रकार का 'एक्टिविज्म' स्वीकार्य है और किस प्रकार का नहीं।

दिलचस्प यह कि पिछली गर्मियों में हुए अण्णा हजारे के भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन की अगुआई तीन मैग्सेसे पुरस्कार-प्राप्त व्यक्ति कर रहे थे - अण्णा हजारे, अरविन्द केजरीवाल और किरण बेदी। अरविन्द केजरीवाल के बहुत से गैर-सरकारी संगठनों में से एक को फोर्ड फाउंडेशन से अनुदान मिलता है। किरण बेदी के एनजीओ को कोका कोला और लेहमन ब्रदर्स से पैसा मिलता है।

भले ही अण्णा हजारे स्वयं को गांधीवादी कहते हैं, मगर जिस कानून की उन्होंने मांग की है -जन लोकपाल बिल- वह अभिजातवादी, खतरनाक और गांधीवाद के विरुद्ध है। चौबीसों घंटे चलने वाले कॉर्पोरेट मीडिया अभियान ने उन्हें 'जनता' की आवाज घोषित कर दिया। अमेरिका में हो रहे ऑक्युपाइ वॉल स्ट्रीट आंदोलन के विपरीत हजारे आंदोलन ने निजीकरण, कॉर्पोरेट ताकत और आर्थिक 'सुधारों' के खिलाफ एक शब्द नहीं बोला। उसके विपरीत इसके प्रमुख मीडिया समर्थकों ने बड़े-बड़े कॉर्पोरेट भ्रष्टाचार घोटालों (जिनमें नामी पत्रकारों का भी पर्दाफाश हुआ था) से जनता का ध्यान सफलतापूर्वक हटा दिया और राजनीतिकों की जन-आलोचना का इस्तेमाल सरकार के विवेकाधीन अधिकारों में और कमी लाने एवं और अधिक निजीकरण की मांग करने के लिए इस्तेमाल किया। (2008 में अण्णा हजारे ने विश्व बैंक से उत्कृष्ट जन सेवा का पुरस्कार लिया।) विश्व बैंक ने वाशिंगटन से एक वक्तव्य जारी किया कि यह आंदोलन उसकी नीतियों से पूरी तरह 'मेल खाता' है।

बहुलतावाद का मुखौटा

सभी अच्छे साम्राज्यवादियों की तरह परोपकारीजनों ने अपने लिए ऐसा अंतर्राष्ट्रीय काडर तैयार और प्रशिक्षित करने का काम चुना जो इस पर विश्वास करे कि पूंजीवाद और उसके विस्तार के तौर पर अमेरिकी वर्चस्व उनके स्वयं के हित में है। और इसीलिए वे लोग ग्लोबल कॉर्पोरेट गवर्नमेंट को चलाने में वैसे ही मदद करें जैसे देशी संभ्रांतों ने हमेशा उपनिवेशवाद की सेवा की है। इसलिए फाउंडेशन शिक्षा और कला के क्षेत्रों में उतरे जो विदेश नीति और घरेलू आर्थिक नीति के बाद उनका तीसरा प्रभाव क्षेत्र बन गया। उन्होंने करोड़ों डॉलर अकादमिक संस्थानों और शिक्षाशास्त्र पर खर्च किए (और करते जा रहे हैं)।

अपनी अद्भुत पुस्तक *फाउंडेशंस एंड पब्लिक पॉलिसी : द मास्क ऑफ प्ल्युरलिज्म* में जोन रूलोफ्स बयां करती हैं कि किस तरह फाउंडेशनों ने राजनीति विज्ञान को कैसे पढ़ाया जाए इस विषय के पुराने विचारों में बदलाव कर 'इंटरनेशनल' (अंतर्राष्ट्रीय) और 'एरिया' (क्षेत्रीय) स्टडीज (अध्ययन) की विधाओं को रूप दिया। इसने अमेरिकी गुप्तचर और सुरक्षा सेवाओं को अपने रंगरूट भर्ती करने के लिए विदेशी भाषाओं और संस्कृति में विशेषज्ञता का एक पूल उपलब्ध करवाया। आज भी सीआइए और अमेरिकी विदेश मंत्रालय अमेरिकी विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों और प्रोफेसरों के साथ काम करते हैं जो विद्वत्ता को लेकर गंभीर नैतिक सवाल खड़े करता है।

जिन लोगों पर शासन किया जा रहा है उन पर नियंत्रण रखने के लिए सूचना एकत्रित करना किसी भी शासक सत्ता का मूलभूत सिद्धांत है। जिस समय भूमि अधिग्रहण और नई आर्थिक नीतियों के खिलाफ प्रतिरोध भारत में बढ़ता जा रहा है, तब मध्य भारत में खुल्लमखुल्ला जंग की छाया में, सरकार ने नियंत्रण तकनीक के तौर पर एक विशाल बायोमेट्रिक कार्यक्रम का प्रारंभ किया, यूनिक आइडेंटीफिकेशन नंबर (विशिष्ट पहचान संख्या या यूआइडी) जो शायद दुनिया का सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी और बड़ी लागत की सूचना एकत्रीकरण परियोजना है। लोगों के पास पीने का साफ पानी, या शौचालय, या खाना, या पैसा नहीं है मगर उनके पास चुनाव कार्ड या यूआइडी नंबर होंगे। क्या यह संयोग है कि इनफोसिस के पूर्व सीईओ नंदन नीलकेणी द्वारा चलाया जा रहा यूआइडी प्रोजेक्ट, जिसका प्रकट उद्देश्य 'गरीबों को सेवाएं उपलब्ध करवाना' है, आइटी उद्योग में बहुत ज्यादा पैसा लगाएगा जो

आजकल कुछ परेशानी में है? (यूआइडी बजट का मोटा अंदाज भी भारत सरकार के वार्षिक शिक्षा खर्च से ज्यादा है।) इतनी ज्यादा तादाद में नाजायज और ''पहचान रहित'' - लोग जो झुग्गियों में रहने वाले हैं, खोमचे वाले हैं, ऐसे आदिवासी हैं जिनके पास भूमि के पट्टे नहीं - जनसंख्या वाले देश को 'डिजीटलाइज' करने का असर यह होगा कि उनका अपराधीकरण हो जायेगा, वे नाजायज से अवैध हो जायेंगे। योजना यह है कि एन्क्लोजर ऑफ कॉमंस का डिजिटल संस्करण तैयार किया जाए और लगातार सख्त होते जा रहे पुलिस राज्य के हाथों में अपार अधिकार सौंप दिए जाएं।

आंकड़ों का जुनून

आंकड़े जमा करने को लेकर नीलकेणी का जुनून बिल्कुल वैसा ही है जैसा डिजिटल आंकड़ा कोष, 'संख्यात्मक लक्ष्यों' और 'विकास के स्कोरकार्ड' को लेकर बिल गेट्स का जुनून है। मानो सूचना का अभाव ही विश्व में भूख का कारण हो न कि उपनिवेशवाद, कर्जा और विकृत मुनाफा-केंद्रित कॉर्पोरेट नीति।

कॉर्पोरेट-अनुदान से चलने वाले फाउंडेशन समाज-विज्ञान और कला के सबसे बड़े धनदाता हैं जो 'विकास अध्ययन', 'समुदाय अध्ययन', 'सांस्कृतिक अध्ययन', 'व्यवहारसंबंधी अध्ययन' और 'मानव अधिकार' जैसे पाठ्यक्रमों के लिए अनुदान और छात्रवृत्तियां प्रदान करते हैं। जब अमेरिकी विश्वविद्यालयों ने अपने दरवाजे अंतर्राष्ट्रीय विद्यार्थियों के लिए खोल दिए, तो लाखों छात्र, तीसरी दुनिया के संभ्रांतों के बच्चे, प्रवेश करने लगे। जो फीस का खर्चा वहन नहीं कर सकते थे उन्हें छात्रवृत्तियां दी गईं। आज भारत और पाकिस्तान जैसे देशों में शायद ही कोई उच्च मध्यमवर्गीय परिवार होगा जिसमें अमेरिका में पढ़ा हुआ बच्चा न हो। इन्हीं लोगों के बीच से अच्छे विद्वान और अध्यापक ही नहीं आए हैं बल्कि प्रधानमंत्री, वित्तमंत्री, अर्थशास्त्री, कॉर्पोरेट वकील, बैंकर और नौकरशाह भी निकले हैं जिन्होंने अपने देशों की अर्थव्यवस्थाओं को वैश्विक कॉर्पोरेशनों के लिए खोलने में मदद की है।

अर्थशास्त्र और राजनीति-विज्ञान के फाउंडेशनों की ओर मित्रवत संस्करण के विद्वानों को फेलोशिप, अनुसंधान निधियों, अनुदानों और नौकरियों से नवाजा गया। जिनके विचार फाउंडेशनों की ओर मित्रवत नहीं थे उन्हें अनुदान नहीं मिले, हाशिये पर डाल अलग-थलग कर दिया गया और उनके पाठ्यक्रम बंद कर दिए गए। धीरे-धीरे एक खास तरह की सोच- एकमात्र सर्वआच्छादित और अत्यंत एकांगी आर्थिक विचारधारा की छत के नीचे सहिष्णुता और बहुसंस्कृतिवाद (जो क्षण भर में नस्लवाद, उन्मत्त राष्ट्रवाद, जातीय उग्रराष्ट्रीयता, युद्ध भड़काऊ इस्लामोफोबिया में बदल जाता है) का भुरभुरा और सतही दिखावा - विमर्श पर हावी होने लगा। ऐसा इस हद तक हुआ कि अब उसे एक विचारधारा के तौर पर देखा ही नहीं जाता। यह एक डीफॉल्ट पोजीशन बन गई है, एक प्राकृतिक अवस्था। उसने सामान्य स्थिति में घुसपैठ कर ली, साधारणता को उपनिवेशित कर लिया और उसे चुनौती देना यथार्थ को चुनौती देने जितना बेतुका या गूढ़ प्रतीत होने लगा। यहां से 'और कोई विकल्प नहीं' तक तुरंत पहुंचना एक आसान कदम था।

शुक्र है ऑक्युपाइ आंदोलन का कि अब जाकर अमेरिकी सड़कों और विश्वविद्यालयी परिसरों में दूसरी भाषा नजर आई है। इस विपरीत परिस्थिति में 'क्लास वार' और 'हमें आपके अमीर होने से दिक्कत नहीं, पर हमारी सरकार को खरीद लेने से दिक्कत है' लिखे हुए बैनर उठाये छात्रों को देखना लगभग अपने आप में इंकलाब है।

अपनी शुरुआत के एक सदी बाद कॉर्पोरेट परोपकार कोका कोला की मानिंद हमारे जीवन का हिस्सा बन गया है। अब करोड़ों गैर-लाभ संस्थाएं हैं, जिनमें बहुत सारी जटिल वित्तीय नेटवर्क के द्वारा बड़े फाउंडेशनों से जुड़ी हुई हैं। इन सारी संस्थाओं को मिलाकर इस 'स्वतंत्र' सेक्टर की कुल परिसंपत्ति 45,000 करोड़ डॉलर है। उनमें सबसे बड़ा है बिल गेट्स फाउंडेशन (2,100 करोड़ डॉलर), उसके बाद लिली एन्डाउमेंट (1,600 करोड़ डॉलर) और द फोर्ड फाउंडेशन (1,500 करोड़ डॉलर)।

जब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने संरचनात्मक समायोजन या स्ट्रक्चरल एड्जस्टमेंट्स के लिए दबाव बनाया और सरकारों से स्वास्थ्य, शिक्षा, शिशु पालन और विकास के लिए सरकारी खर्च जबरदस्ती कम करवाया, तो एनजीओ सामने आये। सबकुछ के निजीकरण का मतलब सबकुछ का एनजीओकरण भी है। जिस तरह नौकरियां और आजीविकाएं ओझल हुई हैं, एनजीओ रोजगार का प्रमुख स्रोत बन गए हैं, उन लोगों के लिए भी जो उनकी सच्चाई से वाकिफ हैं। जरूरी नहीं कि सारे एनजीओ खराब हों। लाखों एनजीओ में से कुछ उत्कृष्ट और रैडिकल काम कर रहे हैं और सभी एनजीओ को एक ही तराजू से तौलना हास्यास्पद होगा। परन्तु कॉर्पोरेट या फाउंडेशनों से अनुदान प्राप्त एनजीओ वैश्विक वित्त की खातिर प्रतिरोध आंदोलनों को खरीदने का तरीका बन गए हैं, बिल्कुल उसी तरह जैसे शेयरहोल्डर कंपनियों के शेयर खरीदते हैं और फिर उन्हें अंदर से नियंत्रित करने की कोशिश करते हैं। वे केंद्रीय तंत्रिका तंत्र अथवा सेंट्रल नर्वस सिस्टम के बिंदुओं की तरह विराजमान हैं, उन रास्तों की तरह जिन पर वैश्विक वित्त प्रवाहित होता है। वे ट्रांसमीटरों, रिसीवरों, शॉक एब्जॉर्बरों की तरह काम करते हैं, हर आवेग के प्रति चौकस होते हैं, सावधानी बरतते हैं कि मेजबान देश की सरकारों को परेशानी न हो। (फोर्ड फाउंडेशन जिन संस्थाओं को पैसा देता है उनसे प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करवाता है जिनमें ये सब बातें होती हैं)। अनजाने में (और कभी-कभी जानबूझकर), वे जासूसी चौकियों की तरह काम करते हैं, उनकी रपटें और कार्यशालाएं और दीगर मिशनरी गतिविधियां और अधिक सख्त होते राज्यों की और अधिक आक्रामक होती निगरानी व्यवस्था को आंकड़े पहुंचाते हैं। जितना अशांत क्षेत्र होगा, उतने अधिक एनजीओ वहां काम करते पाए जायेंगे।

शरारती ढंग से जब सरकार या कॉर्पोरेट प्रेस नर्मदा बचाओ आंदोलन या कुडनकुलम आणविक संयंत्र के विरोध जैसे असली जनांदोलनों की बदनामी का अभियान चलाना चाहते हैं, तो वे आरोप लगाते हैं कि ये जनांदोलन 'विदेशी वित्तपोषित' प्राप्त एनजीओ हैं। उन्हें भली-भांति पता है कि अधिकतर एनजीओ को, खासकर जिन्हें अच्छी राशि मिलती है, को कॉर्पोरेट वैश्वीकरण को बढ़ावा देने का आदेश मिला हुआ है न कि उसमें रोड़े अटकाने का।

अपने अरबों डॉलर के साथ इन एनजीओ ने दुनिया में अपनी राह बनाई है, भावी क्रांतिकारियों को वेतनभोगी एक्टिविस्टों में बदलकर, कलाकारों, बुद्धिजीवियों और फिल्मकारों को अनुदान देकर, उन्हें हौले से फुसलाकर उग्र मुठभेड़ से परे ले जाकर, बहुसंस्कृतिवाद, जेंडर, सामुदायिक विकास की दिशा में प्रवेश कराकर- ऐसा विमर्श जो पहचान की राजनीति और मानव अधिकारों की भाषा में बयां किया जाता है।

न्याय की संकल्पना का मानव अधिकारों के उद्योग में परिवर्तन एक ऐसा वैचारिक तख्तापलट रहा है जिसमें एनजीओ ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मानव अधिकारों का संकीर्ण दृष्टि से बात करना एक अत्याचार-आधारित विश्लेषण की राह बनाता है जिसमें असली सूरत छुपाई जा सकती है और संघर्षरत दोनों पक्षों को - मसलन, माओवादी और भारत सरकार, या इजराइली सेना और हमास - दोनों को मानव अधिकारों के उल्लंघन के नाम पर डांट पिलाई जा सकती है। खनिज कॉर्पोरेशनों द्वारा जमीन कब्जाना या इजरायली राज्य द्वारा फिलिस्तीनी भूमि को कब्जे में करना, ऐसी बातें फुटनोट्स बन जाती हैं जिनका विमर्श से बहुत थोड़ा संबंध होता है। कहने का मतलब यह नहीं कि मानव अधिकारों की कोई अहमियत नहीं। अहमियत है, पर वे उतना अच्छा प्रिज्म नहीं हैं जिसमें से हमारी दुनिया की भयानक नाइंसाफियों को देखा जाए या किंचित भी समझा जाए।

नारीवाद का भटकाव

एक और वैचारिक तख्ता पलट का संबंध नारीवादी आंदोलन में फाउंडेशनों की सहभागिता से है। भारत में ज्यादातर 'अधिकृत' नारीवादी और महिलाओं के संगठन क्यों 90,000 सदस्यीय क्रांतिकारी महिला आदिवासी संगठन जैसे संगठनों से सुरक्षित दूरी बनाये रखते हैं जो अपने समुदायों में पितृसत्ता और दंडकारण्य के जंगलों में खनन कॉर्पोरेशनों द्वारा हो रहे विस्थापन के खिलाफ लड़ रहे हैं? ऐसा क्यों है कि लाखों महिलाओं की उस भूमि से बेदखली और निष्कासन, जिसकी वे मालिक हैं और जिस पर उन्होंने मेहनत की है, एक महिलावादी मुद्दा नहीं है?

उदारवादी नारीवादी आंदोलन के जमीन से जुड़े साम्राज्यवाद-विरोधी और पूंजीवाद-विरोधी जनांदोलनों से अलग होने की शुरुआत फाउंडेशनों की दुष्टता भरी चालों से नहीं हुई। यह शुरुआत साठ और सत्तर के दशक में हुए महिलाओं के तेजी से हो रहे रैडिकलाइजेशन के अनुरूप बदलने और उसे समायोजित करने में उस दौर के आंदोलनों की असमर्थता से हुई। हिंसा और अपने पारंपरिक समाजों में यहां तक कि वामपंथी आंदोलनों के तथाकथित प्रगतिशील नेताओं में मौजूद पितृसत्ता को लेकर बढ़ती अधीरता को पहचानने में और उसे सहारा और आर्थिक सहयोग देने हेतु आगे आने में फाउंडेशनों ने बुद्धिमानी दिखाई। भारत जैसे देश में ग्रामीण और शहरी वर्गीकरण में फूट भी थी। ज्यादातर रैडिकल और पूंजीवाद-विरोधी आंदोलन ग्रामीण इलाकों में स्थित थे, जहां महिलाओं की जिंदगी पर पितृसत्ता का व्यापक राज चलता था। शहरी महिला एक्टिविस्ट जो इन आंदोलनों (जैसे नक्सली आंदोलन) का हिस्सा बनीं, वे पश्चिमी महिलावादी आंदोलन से प्रभावित और प्रेरित थीं और मुक्ति की दिशा में उनकी अपनी यात्राएं अक्सर उसके विरुद्ध होतीं जिसे उनके पुरुष नेता उनका कर्तव्य मानते थे; यानी 'आम जनता' में घुल-मिल जाना। बहुत सी महिला एक्टिविस्ट अपने जीवन में होने वाले रोजमर्रा के उत्पीड़न और भेदभाव, जो उनके अपने कामरेडों द्वारा भी किए जाते थे, को खत्म करने के लिए 'क्रांति' तक रुकने के लिए तैयार नहीं थीं। लैंगिक बराबरी को वे क्रांतिकारी प्रक्रिया का मुकम्मल, अत्यावश्यक, बिना किसी किस्म की सौदेबाजी वाला हिस्सा बनाना चाहती थीं न कि क्रांति के उपरान्त का वायदा। समझदार हो चुकीं, क्रोधित और मोहभंग में महिलाएं दूर हटने लगीं और समर्थन और सहारे के दूसरे माध्यम तलाशने लगीं। परिणामतः अस्सी का दशक खत्म होते-होते, लगभग उसी समय जब भारतीय बाजारों को खोल दिया गया था, भारत जैसे देश में उदारवादी

महिलावादी आंदोलन का बहुत ज्यादा एनजीओकरण हो गया था। इन में से बहुत से एनजीओ ने समलैंगिक अधिकारों, घरेलू हिंसा, एड्स और देह व्यापार करने वालों के अधिकारों को लेकर बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है। मगर यह उल्लेखनीय है कि उदार नारीवादी आंदोलन नई आर्थिक नीतियों के विरोध में आगे नहीं आये हैं, बावजूद इसके कि महिलाएं इनसे और भी ज्यादा पीड़ित हुई हैं। धन वितरण को हथियार की तरह इस्तेमाल करके, फाउंडेशन 'राजनीतिक' गतिविधि' क्या होनी चाहिए इसको काफी हद तक निर्धारित करने में सफल रहे हैं। फाउंडेशनों के अनुदान संबंधी सूचनापत्रों में आजकल बताया जाता है कि किन बातों को महिलाओं के 'मुद्दे' माना जाए और किन को नहीं।

महिलाओं के आंदोलन के एनजीओकरण ने पश्चिमी उदार नारीवाद को (सबसे ज्यादा वित्तपोषित होने के कारण) नारीवाद क्या होता है का झंडाबरदार बना दिया है। लड़ाइयां, हमेशा की तरह, महिलाओं की देह को लेकर लड़ी गईं, एक सिरे पर बोटोक्स को खींच कर और दूसरे पर बुर्के को। (और फिर वे भी हैं जिन पर बोटोक्स और बुर्के की दोहरी मार पड़ती है।) जब महिलाओं को जबरदस्ती बुर्के से बाहर लाने की कोशिश की जाती है, जैसा कि हाल ही में फ्रांस में हुआ, बजाय यह करने के कि ऐसी परिस्थितियां निर्मित की जाएं कि महिलाएं खुद चुनाव कर पाएं कि उन्हें क्या पहनना है और क्या नहीं, तब बात उसे आजाद करने की नहीं उसके कपड़े उतारने की हो जाती है। यह अपमान और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का काम हो जाता है। बात बुर्के की नहीं है। बात जबरदस्ती की है। महिलाओं को जबरदस्ती बुर्के से बाहर निकालना वैसा ही है जैसे उन्हें जबरदस्ती बुर्का पहनाना। जेंडर को इस तरह देखना, मतलब सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संदर्भ के बिना, उसे पहचान का मुद्दा बना देता है, सिर्फ पहनावे और दिखावे की चीजों की लड़ाई। यही वह था जिसने अमेरिकी सरकार को 2001 में अफगानिस्तान पर हमला करते समय पश्चिमी महिलावादी समूहों की नैतिक आड़ लेने का मौका दिया। अफगानी औरतें तालिबान के राज में भयानक मुश्किलों में थीं (और हैं)। मगर उन पर बम बरसा कर उनकी समस्याओं का समाधान नहीं होने वाला था।

एनजीओ जगत में, जिसने अपनी अनोखी दर्दनिवारक भाषा तैयार कर ली है, सब कुछ एक विषय बन गया है, एक अलग, पेशेवरी, विशेष अभिरुचि वाला मुद्दा। सामुदायिक विकास, नेतृत्व विकास, मानव अधिकार, स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रजननीय अधिकार, एड्स, एड्स से संक्रमित अनाथ बच्चे - इन सबको अपने-अपने कोटर में हवाबंद कर दिया गया है और जिनके अपने-अपने विस्तृत और स्पष्ट अनुदान नियम हैं। फंडिंग ने एकजुटता को इस तरह टुकड़े-टुकड़े कर दिया है जैसा दमन कभी नहीं कर पाया। गरीबी को भी, महिलावाद की तरह, पहचान की समस्या के तौर पर गढ़ा जाता है। मानो गरीब अन्याय से तैयार नहीं हुए बल्कि वे कोई खोई हुई प्रजाति हैं जो अस्तित्व में हैं, और जिनका अल्पकालिक बचाव समस्या निवारण तंत्र (एनजीओ द्वारा व्यक्तिगत आपसी आधार पर संचालित) द्वारा किया जा सकता है और दीर्घकालिक बचाव सुशासन या गुड गवर्नंस से होगा। वैश्विक कॉर्पोरेट पूंजीवाद के शासनकाल में यह बोल कर बताने की जरूरत नहीं।

गरीबी की चमक

भारतीय गरीबी, जब भारत 'शाइन' कर रहा था उस दौरान कुछ थोड़े वक्त के नेपथ्य में चले जाने के बाद, फिर से कला के क्षेत्र में आकर्षक विषय के तौर पर लौट आई है, इसका नेतृत्व स्लमडॉग मिलियनेयर जैसी फिल्में कर रही हैं। गरीबों, उनकी गजब की जीजीविषा और गिरकर उठने की क्षमता की इन कहानियों में कोई खलनायक नहीं होते - सिवाय छोटे खलनायकों के जो नेरेटिव टेंशन और स्थानिकता का पुट देते हैं। इन रचनाओं के लेखक पुराने जमाने के नृशास्त्रियों के आज के समानधर्मा जैसे हैं, जो 'जमीन' पर काम करने के लिए, अज्ञात की अपनी साहसिक यात्राओं के लिए सराहे जाते और सम्मान पाते हैं। आप को इन तरीकों से अमीरों की जांच-परख शायद ही कभी देखने को मिले।

ये पता कर लेने के बाद कि सरकारों, राजनीतिक दलों, चुनावों, अदालतों, मीडिया और उदारवादी विचार का बंदोबस्त किस तरह किया जाये, नव-उदारवादी प्रतिष्ठान के सामने एक और चुनौती थी; बढ़ते असंतोष, 'जनता की शक्ति' के खतरे से कैसे निबटा जाए? उसे वश में किया जाए? विरोधकर्ताओं को पालतुओं में कैसे बदलें? जनता के क्रोध को किस तरह खींचा जाए और अंधी गलियों की ओर मोड़ दिया जाये?

इस मामले में भी फाउंडेशनों और उनके आनुषंगिक संगठनों का लंबा और सफल इतिहास है। साठ के दशक में अमेरिका में अश्वेतों के सिविल राइट्स मूवमेंट (नागरिक अधिकार या समानता के आंदोलन) की हवा निकालना और उसे नरम करने और 'ब्लैक पावर' (अश्वेत शक्ति) के 'ब्लैक कैपिटलिज्म' (अश्वेत पूंजीवाद) में यशस्वी रूपांतरण में उनकी भूमिका इस बात का प्रमुख उदाहरण है।

जे डी रॉकफेलर के आदर्शों के अनुसार रॉकफेलर फाउंडेशन ने मार्टिन लूथर किंग सीनियर (मार्टिन लूथर किंग जूनियर के पिता) के साथ मिलकर काम किया। मगर स्टूडेंट नॉनवायलेंट कोआर्डिनेशन कमेटी (एसएनसीसी या छात्र अहिंसक समन्वय समिति) और ब्लैक पैंथर्स (काले चीते) जैसे अधिक आक्रामक संगठनों के उभरने के बाद उनका प्रभाव कम हो गया। फोर्ड और रॉकफेलर फाउंडेशन दाखिल हुए। 1970 में उन्होंने अश्वेतों के 'नरम' संगठनों को डेढ़ करोड़ डॉलर दिए। यह लोगों को अनुदान, फेलोशिप, छात्रवृत्तियां, पढ़ाई छोड़ चुके लोगों के लिए रोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम और कालों के व्यापारिक प्रतिष्ठानों के लिए प्रारंभिक धन के रूप में मिले। दमन, आपसी झगड़े और पैसों के जाल ने रेडिकल अश्वेत आंदोलन को धीरे-धीरे कुंद कर दिया।

मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, नस्लवाद और वियतनाम युद्ध के निषिद्ध संबंध को चिह्नित किया था। परिणामस्वरूप उनकी हत्या के बाद उनकी स्मृति तक सुव्यवस्था के लिए विषभरा खतरा बन गई। फाउंडेशनों और कॉर्पोरेशनों ने उनकी विरासत को नया रूप देने के लिए काफी मेहनत की ताकि वह मार्केट-फ्रेंडली स्वरूप में फिट हो सके। फोर्ड मोटर कंपनी, जनरल मोटर्स, मोबिल, वेस्टर्न इलेक्ट्रिक, प्रॉक्टर एंड गैंबल, यूएस स्टील, मोंसैंटो और कई दूसरों ने मिलकर 20 लाख डॉलर के क्रियाशील अनुदान के साथ द मार्टिन लूथर किंग जूनियर सेंटर फॉर नॉनवाइलेंट सोशल चेंज (मार्टिन लूथर किंग जूनियर अहिंसक सामाजिक बदलाव केंद्र) की स्थापना की। यह सेंटर किंग पुस्तकालय चलाता है और नागरी अधिकार आंदोलन के पुरालेखों का संरक्षण करता है। यह सेंटर जो बहुत सारे कार्यक्रम चलाता है उनमें कुछ प्रोजेक्ट ऐसे रहे हैं जिनमें उन्होंने 'अमेरिकी रक्षा विभाग

(यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेंट ऑफ डिफेंस), आर्म्ड फोर्सेस चौप्लेंस बोर्ड (सशस्त्र सेना पुरोहित बोर्ड) और अन्यों के साथ मिलकर काम किया है'। यह मार्टिन लूथर किंग जूनियर व्याख्यान माला 'द फ्री इंटरप्राइज सिस्टम : एन एजेंट फॉर नॉनवाइलेंट सोशल चेंज' (मुक्त उद्यम व्यवस्था : अहिंसक सामाजिक बदलाव के लिए एक कारक) विषय पर सहप्रायोजक था।

ऐसा ही तख्तापलट दक्षिण अफ्रीका के रंग-भेद विरोधी संघर्ष में करवाया गया। 1978 में रॉकफेलर फाउंडेशन ने दक्षिण अफ्रीका के प्रति अमेरिकी नीति को लेकर एक अध्ययन आयोग का गठन किया। रिपोर्ट ने अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस (एएनसी) में सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव के बारे चेताया और कहा कि सभी नस्लों के बीच राजनीतिक सत्ता की सच्ची हिस्सेदारी हो, यही अमेरिकी के सामरिक और कॉर्पोरेट हितों (अर्थात दक्षिण अफ्रीका के खनिजों तक पहुंच) के लिए शुभ यही होगा।

फाउंडेशनों ने एएनसी की सहायता करना शुरू कर दिया। जल्द ही एएनसी स्टीव बीको की ब्लैक कॉन्शसनेस मूवमेंट (अश्वेत चेतना आंदोलन) जैसे अधिक रैडिकल आंदोलनों पर चढ़ बैठी और उन्हें कमोबेश खात्म कर के छोड़ा। जब नेल्सन मंडेला दक्षिण अफ्रीका के पहले अश्वेत राष्ट्रपति बने तो उन्हें जीवित संत घोषित कर दिया गया, सिर्फ इसलिए नहीं कि वह 27 साल जेल में बिता चुके स्वतंत्रता सेनानी थे बल्कि इसलिए कि उन्होंने वाशिंगटन समझौते को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। एएनसी के एजेंडे से समाजवाद पूरी तरह गायब हो गया। दक्षिण अफ्रीका के बहुप्रशंसित महान 'शांतिपूर्ण परिवर्तन' का मतलब था कोई भूमि सुधार नहीं, कोई क्षतिपूर्ति नहीं, दक्षिण अफ्रीका की खानों का राष्ट्रीयकरण भी नहीं। इसकी जगह हुआ निजीकरण और संरचनात्मक समायोजन। मंडेला ने दक्षिण अफ्रीका के सर्वोच्च नागरी अलंकरण - द ऑर्डर ऑफ गुड होप - से इंडोनेशिया में कम्युनिस्टों के हत्यारे, अपने पुराने समर्थक और मित्र जनरल सुहार्तो को सम्मानित किया। आज दक्षिण अफ्रीका में मर्सिडीज में घूमने वाले पूर्व रैडिकलों और ट्रेड यूनियन नेताओं का गुट देश पर राज करता है। और यह ब्लैक लिबरेशन (अश्वेत मुक्ति) के भरम को हमेशा बनाये रखने के लिए काफी है।

दलित पूंजीवाद की ओर

अमेरिका में अश्वेत शक्ति का उदय भारत में रैडिकल, प्रगतिशील दलित आंदोलन के लिए प्रेरणा का स्रोत था और दलित पैंथर जैसे संगठन ब्लैक पैंथर जैसे संगठनों की प्रतिबिंबन थे। लेकिन दलित शक्ति भी ठीक उसी तरह नहीं पर लगभग उन्हीं तौर-तरीकों से दक्षिणपंथी हिंदू संगठनों और फोर्ड फाउंडेशन की खुली मदद से विभाजित और कमजोर कर दी गई है। यह अब दलित पूंजीवाद के रूप में बदलने की ओर बढ़ रही है।

पिछले साल दिसंबर में इंडियन एक्सप्रेस की रिपोर्ट थी; 'दलित इनक्लेव रेडी टू शो बिजनेस कैन बीट कास्ट'। इसमें दलित इंडियन चेंबर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्रीज (डिक्की) के एक सलाहकार को उद्धृत किया गया था। 'हमारे समाज में दलितों की सभा के लिए प्रधान मंत्री को लाना मुश्किल नहीं है। मगर दलित उद्यमियों के लिए टाटा या गोदरेज के साथ दोपहर के खाने पर या चाय पर एक तस्वीर खिंचवाना एक अरमान होता है – और इस बात का सबूत कि वे आगे बढ़े हैं,' उन्होंने कहा। आधुनिक भारत की परिस्थिति को देखते हुए यह कहना जातिवादी

और प्रतिक्रियावादी होगा कि दलित उद्यमियों को नामी-गरामी उद्योगपतियों के साथ बैठने (हाई टेबल पर जगह पाने) की कोई जरूरत नहीं। मगर यह अभिलाषा, अगर दलित राजनीति का वैचारिक ढांचा होने लगी तो बड़े शर्म की बात होगी। और इस से उन करोड़ों दलितों को भी कोई मदद नहीं मिलेगी जो अब भी अपने हाथों से कचरा साफ करके जीविका चलाते हैं - अपने सिरों पर आदमी की विष्ठा ढोते हैं।

वामपंथी आंदोलन की असफलताएं

फोर्ड फाउंडेशन से अनुदान स्वीकार करने वाले युवा दलित स्कॉलरों के प्रति कठोर नहीं हुआ जा सकता। भारतीय जाति व्यवस्था के मलकुंड से बाहर निकलने का मौका उन्हें और कौन दे रहा है? इस घटनाक्रम का काफी हद तक दोष और शर्मिंदगी दोनों ही भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के सर है जिसके नेता आज भी मुख्यतः ऊंची जातियों से आते हैं। इसने सालों से जाति के सिद्धांत को मार्क्सवादी वर्ग विश्लेषण में जबरदस्ती फिट करने की कोशिश की है। यह कोशिश सिद्धांत और व्यवहार दोनों में ही बुरी तरह असफल रही है। दलित समुदाय और वाम के बीच की दरार पैदा हुई दलितों के दृष्टि संपन्न नेता भीमराव अंबेडकर एवं ट्रेड यूनियन नेता और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्य एस.ए.डांगे के बीच के झगड़े से। 1928 में मुंबई में कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल से अंबेडकर का कम्युनिस्ट पार्टी से मोहभंग शुरू हुआ। तब उन्हें अहसास हुआ कि मेहनतकश वर्ग की एकजुटता के सारे शब्दाडंबरों के बावजूद पार्टी को इस बात से कोई आपत्ति न थी कि बुनाई विभाग से 'अछूतों' को बाहर रखा जाता है (और वे सिर्फ कम वेतन वाले कताई विभाग के योग्य माने जाते हैं) इसलिए कि उस काम में धागों पर थूक का इस्तेमाल करना पड़ता था और जिसे अन्य जातियां 'अशुद्ध' मानती थीं।

अंबेडकर को महसूस हुआ कि एक ऐसे समाज में जहां हिंदू शास्त्र छुआछूत और असमानता का संस्थाकरण करते हैं, वहां 'अछूतों' के लिए, उनके सामाजिक और नागरी अधिकारों के लिए तत्काल संघर्ष करना उस साम्यवादी क्रांति के इंतजार से कहीं ज्यादा जरूरी था जिसका आश्वासन था। अंबेडकरवादियों और वाम के बीच की दरार की दोनों ही पक्षों को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है। इसका मतलब यह निकला है कि दलित आबादी के बहुत बड़े हिस्से ने, जो भारत के मेहनतकश वर्ग की रीढ़ है, सम्मान और बेहतरी की अपनी उम्मीदें संविधानवाद, पूंजीवाद और बसपा जैसे राजनीतिक दलों से लगा ली हैं, जो पहचान की राजनीति के उस ब्रांड का पालन करते हैं जो महत्त्वपूर्ण तो है पर दीर्घकालिक तौर पर गतिहीन है।

अमेरिका में, जैसा कि हमने देखा, कॉर्पोरेट-अनुदानित फाउंडेशनों ने एनजीओ संस्कृति को जन्म दिया। भारत में लक्ष्य बना कर किए जाने वाले कॉर्पोरेट परोपकार की गंभीरतापूर्वक शुरूआत नब्बे के दशक में, नई आर्थिक नीतियों के युग में हुई। स्टार चेंबर की सदस्यता सस्ते में नहीं मिलती। टाटा समूह ने उस जरूरतमंद संस्थान, हार्वर्ड बिजनेस स्कूल, को पांच करोड़ डॉलर और कॉर्नेल विश्वविद्यालय को भी पांच करोड़ डॉलर दान किए। इनफोसिस के नंदन नीलकेणी और उनकी पत्नी रोहिणी ने 50 लाख डॉलर येल विश्वविद्यालय के इंडिया इनिशिएटिव को शुरूआती निधि के तौर पर दान किए। महिंद्रा समूह द्वारा अब तक का सबसे बड़ा एक करोड़ डॉलर का अनुदान पाने के बाद हार्वर्ड ह्युमैनिटीज सेंटर का नाम अब महिंद्रा ह्युमैनिटीज सेंटर हो गया है।

यहां पर जिंदल समूह, जिसके खनन, धातु और ऊर्जा में बड़े निवेश हैं, जिंदल ग्लोबल लॉ स्कूल चलाता है और जल्द ही जिंदल स्कूल ऑफ गवर्नमेंट एंड पब्लिक पॉलिसी शुरू करने वाला है। (फोर्ड फाउंडेशन कांगो में एक विधि महाविद्यालय चलाता है।) इनफोसिस के मुनाफों से मिले पैसे से चलने वाला नंदन नीलकेणी द्वारा अनुदानित द न्यू इंडिया फाउंडेशन समाज विज्ञानियों को पुरस्कार और फेलोशिप देता है। ग्रामीण विकास, गरीबी निवारण, पर्यावरण शिक्षा और नैतिक उत्थान के क्षेत्रों में काम करने वालों के लिए जिंदल एल्युमिनियम से अनुदान प्राप्त सीताराम जिंदल फाउंडेशन ने एक-एक करोड़ रुपए के पांच नगद पुरस्कारों की घोषणा की है। रिलायंस समूह का ऑब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन (ओ.आर.एफ.), जिसे फिलहाल मुकेश अंबानी से धन मिलता है, रॉकफेलर फाउंडेशन के अंदाज में ढला है। इससे रिसर्च 'फेलो' और सलाहकारों के तौर पर गुप्तचर सेवाओं के सेवा निवृत्त एजेंट, सामरिक विश्लेषक, राजनेता (जो संसद में एक दूसरे के खिलाफ होने का नाटक करते हैं), पत्रकार और नीति निर्धारक जुड़े हैं।

ओ.आर.एफ. के उद्देश्य बड़े साफ-साफ प्रतीत होते हैं; 'आर्थिक सुधारों के पक्ष में आम सहमति तैयार करने हेतु सहायता करना।' और 'पिछड़े जिलों में रोजगार निर्मिति और आणविक, जैविक और रसायनिक खतरों का सामना करने के लिए समयोचित कार्यनीतियां बनाने जैसे विविध क्षेत्रों में व्यवहार्य और पर्यायी नीतिगत विकल्प तैयार करके' आम राय को आकार देना और उसे प्रभावित करना।

ओ.आर.एफ. के घोषित उद्देश्यों में 'आणविक, जैविक और रसायनिक युद्ध' को लेकर अत्यधिक चिंता देखकर मैं शुरू में चक्कर में पड़ गई। मगर उसके 'संस्थागत सहयोगियों' की लंबी सूची में रेथियोन और लॉकहीड मार्टिन जैसे नाम देख कर हैरानी कम हुई। ये दोनों कंपनियां दुनिया की प्रमुख हथियार निर्माता हैं। 2007 में रेथियोन ने घोषणा की कि वे अब भारत पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। क्या यह इसलिए है कि भारत के 3,200 करोड़ डॉलर के रक्षा बजट का कुछ हिस्सा रेथियोन और लॉकहीड मार्टिन द्वारा तैयार हथियारों, गाइडेड मिसाइलों, विमानों, नौसेना के जहाजों और निगरानी उपकरणों पर खर्च होगा?

हथियार क्यों चाहिए?

हथियारों की जरूरत जंग लड़ने के लिए होती है? या जंगों की जरूरत हथियारों के लिए बाजार तैयार करने के लिए होती है? जो भी हो योरोप, अमेरिका और इजराइल की अर्थव्यवस्थाएं बहुत कुछ उनके हथियार उद्योग पर निर्भर हैं। यही वह चीज है जो उन्होंने चीन को आउटसोर्स नहीं की।

अमेरिका और चीन के बीच के शीत युद्ध में भारत को उस भूमिका के लिए तैयार किया जा रहा है जो रूस के साथ शीत युद्ध में पाकिस्तान ने अमेरिका के सहयोगी के तौर पर निभाई थी। (देख लीजिये पाकिस्तान का हाल क्या हुआ।) भारत और चीन के बीच के लड़ाई-झगड़ों को जो स्तंभकार और 'रणनीतिक विश्लेषक' बढ़ा-चढ़ाकर पेश कर रहे हैं, देखा जाए तो उनमें से कई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इंडो-अमेरिकन थिंक टैंकों और फाउंडेशनों से जुड़े पाए जायेंगे। अमेरिका के 'सामरिक सहयोगी' होने का यह मतलब नहीं कि दोनों राष्ट्राध्यक्ष एक दूसरे को हमेशा दोस्ताना फोन कॉल करते रहें। इस का मतलब है हर स्तर पर सहयोग (हस्तक्षेप)। इसका

मतलब है भारत की जमीन पर अमेरिकी स्पेशल फोर्सेस की मेजबानी करना (पेंटागन के एक कमांडर ने हाल ही में बीबीसी से इस बात की पुष्टि की)। इसका अर्थ है गुप्त सूचनाएं साझा करना, कृषि और ऊर्जा-संबंधी नीतियों में बदलाव करना, वैश्विक निवेश हेतु स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्रों को खोलना। इसका अर्थ है खुदरा क्षेत्र को खोलना। इसका मतलब है गैर-बराबर हिस्सेदारी जिसमें भारत को उसके साथी द्वारा मजबूत बांहों में भरकर डांस फ्लोर पर नचाया जा रहा है और उसके नाचने से मना करते ही उसे भस्म कर दिया जाएगा।

ओ.आर.एफ. के 'संस्थागत सहयोगियों' की सूची में आपको रैंड कॉर्पोरेशन, फोर्ड फाउंडेशन, विश्व बैंक, ब्रूकिंग्स इंस्टिट्यूशन (जिनका घोषित मिशन है 'ऐसी अभिनव एवं व्यावहारिक अनुशंसाएं करना जो तीन वृहत लक्ष्यों को आगे बढ़ायेः अमेरिकी लोकतंत्र को मजबूत करना; सभी अमेरिकियों का आर्थिक और सामाजिक कल्याण, सुरक्षा और अवसर को बढ़ावा देना; और अधिक उदार, सुरक्षित, समृद्ध और सहकारात्मक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अर्जित करना'।) उस सूची में आपको जर्मनी के रोजा लक्जमबर्ग फाउंडेशन का नाम भी मिलेगा। (बेचारी रोजा, जिन्होंने साम्यवाद के ध्येय के लिए अपनी जान दी उनका नाम ऐसी सूची में!)

हालांकि पूंजीवाद प्रतिस्पर्धा पर आधारित होता है, मगर खाद्य श्रृंखला के शीर्ष पर बैठे हुए लोगों ने दिखाया है कि वे सबको मिलाकर चलने और एकजुटता दिखाने में समर्थ हैं। महान पश्चिमी पूंजीपतियों ने फासिस्टों, समाजवादियों, निरंकुश सत्ताधीशों और सैनिक तानाशाहों के साथ धंधा किया है। वे लगातार अपने आप को अनुकूलित कर सकते हैं और नए तरीके निकाल सकते हैं। वे तुरंत विचार करने और अपरिमित नीतिगत चतुराई में माहिर हैं।

मगर आर्थिक सुधारों के माध्यम से सफलतापूर्वक आगे बढ़ने, मुक्त बाजार 'लोकतंत्र' बिठाने के लिए लड़ाइयां छेड़ने और देशों पर सैन्य कब्जे जमाने के बावजूद, पूंजीवाद एक ऐसे संकट से गुजर रहा है जिसकी गंभीरता अभी तक पूरी तरह सामने नहीं आई है। मार्क्स ने कहा था, 'इसलिए बुर्जुआ वर्ग जो उत्पादित करता है, उनमें सबसे ऊपर होते हैं उसकी ही कब्र खोदने वाले। इनका पतन और सर्वहारा की विजय दोनों समान रूप से अपरिहार्य हैं।'

सर्वहारा वर्ग, जैसा कि मार्क्स ने समझा था, लगातार हमले झेलता रहा है। फैक्टरियां बंद हो गई हैं, नौकरियां छूमंतर हो गई हैं, यूनियनें तोड़ डाली गई हैं। पिछले कई सालों से सर्वहारा को हर संभव तरीके से एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा किया जाता रहा है। भारत में यह हिंदू बनाम मुस्लिम। हिंदू बनाम ईसाई, दलित बनाम आदिवासी, जाति बनाम जाति, प्रदेश बनाम प्रदेश रहा है। और फिर भी, दुनिया भर में, सर्वहारा वर्ग लड़ रहा है। भारत में दुनिया के निर्धनतम लोगों ने कुछ समृद्धतम कॉर्पोरेशनों का रास्ता रोकने के लिए लड़ाई लड़ी है।

बढ़ता पूंजीवादी संकट

पूंजीवाद संकट में है। ट्रिकल-डाउन असफल हो गया है। अब गश-अप भी संकट में है। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय आपदा बढ़ती जा रही है। भारत की विकास दर कम होकर 6.9 प्रतिशत हो गई है। विदेशी निवेश दूर जा रहा है। प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय कॉर्पोरेशन पैसों के विशाल ढेर पर बैठे हैं, समझ नहीं आ रहा है कहां पैसा निवेश करें, यह भी

समझ नहीं आ रहा कि वित्तीय संकट कैसे खत्म होगा। वैश्विक पूंजी के भीमकाय रथ में यह एक प्रमुख संरचनात्मक दरार है।

पूंजीवाद के असली 'गोरकन' शायद उसके भ्रांतिग्रस्त प्रमुख साबित हों, जिन्होंने विचारधारा को धर्म बना लिया है। उनकी कूटनीतिक प्रदीप्ति के बावजूद उन्हें एक साधारण-सी बात समझने में परेशानी हो रही हैः पूंजीवाद धरती को तबाह कर रहा है। विगत संकटों से उसे उबारने वाली दो युक्तियां -जंग और खरीदारी- काम नहीं करने वाली है।

एंटिला के सामने खड़े होकर मैं देर तक सूर्यास्त होते देखती रही। कल्पना करने लगी कि वह ऊंची मीनार जितनी जमीन से ऊपर है उतनी ही नीचे भी। कि उसमें सत्ताइस-मंजिल लंबा एक सुरंग मार्ग है जो जमीन के अंदर सांप जैसा फैला है। यह भूखों की भांति धरती से संपोषण खींचे जा रही है और उसे धुएं और सोने में बदल रही है।

अंबानियों ने अपनी इमारत का नाम एंटिला क्यों रखा? एंटिला एक काल्पनिक द्वीप-समूह का नाम है जिसकी कहानी आठवीं सदी की एक आइबेरियाई किंवदंती से जुड़ी है, जब मुसलमानों ने आइबेरियाई प्रायद्वीप या हिस्पेनिया पर जीत हासिल की, तो वहां राज कर रहे छह विथिगोथिक ईसाई पादरी और उनके पल्लीवासी जहाजों पर चढ़ कर भाग निकले। कई दिन या शायद कई हफ्ते समुद्र में गुजारने के बाद वे एंटिला द्वीप-समूह पर पहुंचे और उन्होंने वहीं बस जाने और नई सभ्यता तैयार करने का फैसला किया। बर्बर लोगों द्वारा शासित अपने देश से पूरी तरह संबंध तोड़ डालने के लिए उन्होंने अपनी नावें जला डालीं।

अपनी इमारत को एंटिला कहकर, क्या अंबानी अपने देस की गरीबी और गंदगी से संबंध तोड़ डालना चाहते हैं? भारत के सबसे सफल अलगाववादी आंदोलन का क्या यह अंतिम अंक है? मध्यम और उच्च वर्ग का अगल हो कर बाहरी अंतरिक्ष में चले जाना?

जैसे-जैसे मुंबई में रात उतरने लगी, कड़क लिनन कमीजें पहने और चटर-चटर करते वाकी-टाकी लिए सुरक्षाकर्मी एंटिला के आतंकित करनेवाले फाटकों के आगे नमूदार हुए। रौशनी जगमगाने लगी, शायद भूतों को डराने के लिए। पड़ोसियों की शिकायत है कि एंटिला की तेज रौशनी ने उनकी रात चुरा ली है।

शायद वक्त हो गया कि अब हम रात को वापिस हासिल करें।

समयान्तर, मई 2012 में पृष्ठ 10-23 पर प्रकाशित

The editor of *Samyantar* has given his kind consent to produce this article on the website.